प्रतिशोध

[कहानी संग्रह]

लेखक

पण्डित विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'

विनोद पुस्तक मन्दिर,

हास्पिटल रोड, आगरा।

भूमिका

स्वर्गीय पंडित विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' हिन्दी कथा-साहित्य में अपनी अद्भुत वर्णन शक्ति मानवीय संवेदनाओं के सफल चित्रण, जनवादी दृष्टिकोण, सरल, सहज-ग्राह्य भाषा एवं शैली के कारण प्रेमचन्द के समकक्ष ठहरते हैं। समस्त हिन्दी कथा-साहित्य में अकेले 'कौशिक' जी ही ऐसे कथाकार हैं जो इस क्षेत्र में प्रेमचन्द के सबसे अधिक निकट हैं। 'माँ' और 'भिखारिणी' नामक इनके उपन्यास प्रेमचन्द कालीन उपन्यासों में अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखे और पढ़े जाते हैं। इनकी 'ताई' शीर्षक कहानी विभिन्न कहानी-संग्रहों में संग्रहीत होती रही है और उसके बिना कोई भी कहानी-संग्रह पूर्ण नहीं माना जाता है। परन्तु इधर 'कौशिक' जी की ही कहानियों का संग्रह प्रकाश में नहीं आ पाया। उनके कुछ पुराने कहानी-संग्रह अवश्य उपलब्ध हुए हैं परन्तु आज कहीं भी उनकी चर्चा नहीं सुनाई पड़ती। इसी अभाव को दूर करने के लिए विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं की फाइलों में लुप्तप्राय: पड़ी हुई उनकी कहानियों का उद्धार कर यह कहानो-संग्रह हिन्दी के पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किया जा रहा है जिससे हमारी पीढ़ी एवं आगे आने वाली पीढ़ी 'कौशिक' जी के महत्व को पहचाने और उनका उचित मूल्यांकन करने का प्रयत्न करे। इसके पश्चात् शीघ्र ही 'कौशिक' जी के दो-तीन कहानी संग्रह और भी प्रकाशित किए जा रहे हैं। विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा के संचालक इस प्रयत्न में हैं कि वे 'कौशिक' जी के समस्त-साहित्य को उपलब्ध कर उसे प्रकाशित करें।

कहानीकार 'कौशिक' जी की कहानियाँ प्राय: संक्षिप्त होती हैं। वे एक ही कहानी में देश, समाज, जीवन की विविध समस्याओं को एक

साथ ही सुलझाने का प्रयत्न न कर जीवन के किसी विशिष्ट अंग को अपने कथ्य का विषय बनाते हैं और उनकी सशक्त लेखनी के चमत्कार द्वारा वह विशिष्ट अंग अपने पूर्ण, स्पष्ट एवं मनमोहक रूप में उपस्थित होता है। 'उलझन' से उन्हें विरक्त है; निराशा या अवसाद को वे अपने पात्रों के पास फटकने भी नही देते। उनके पात्र अपूर्व उमंग से भरे हुए जीवन पर्यन्त संघर्षों में लगे रहते है। लेखक का मानवतावादी दृष्टिकोण, जिसमें आदर्श का भी गहरा पुट रहता है, पाठक को निरन्तर संघर्षरत रहने की प्रेरणा प्रदान करता रहता है। 'कौशिक' जी के साहित्य का यही महत्व है जो उन्हें अमर बनाने के लिए यथेष्ठ है।

—राजनाथ शर्मा

विषय-सूची

न्याय

दिन के तीन बज चुके थे। इसी समय एक बड़ी तथा सुन्दर मोटर-कार तेजी के साथ सड़क पर चली जा रही थी। मोटर में पिछली सीट पर एक २०, २२ वर्ष का सुन्दर युवक खाकी कोट, ब्रीचेज तथा फुल-बूट पहने बैठा हुआ था, उसके बगल ही में सीट पर खाकी सोला हैट रखी हुई थी। ड्राइवर की बगल में, एक दूसरा व्यक्ति बैठा था, इसकी वयस ३०, ३५ वर्ष के लगभग होगी। यह भी खाकी कोट, ब्रीचेज इत्यादि से सुसज्जित और सिर पर खाकी साफा बाँधे था। उसके दोनों घुटनों के बीच में दो दोनाली बन्दूकें दबी हुई थीं और कार्तूस की पेटी उसके कंधे पर पड़ी हुई थी। सहसा नवयुवक ने उस व्यक्ति से कहा—"भाई अनिरुद्धसिंह, प्यास बड़े जोर से लगी है। किसी गाँव में ठहर कर पानी पीना चाहिए।" अनिरुद्धसिंह बोला—"बहुत अच्छा हुजूर! कोई न कोई गाँव आने ही वाला है।"

—"थरमस फ्लास्क * में तो अब कुछ होगा नहीं, क्या?"

---

* थरमस फ्लास्क—जिसमें पानी २४ घंटे तक ठंडा या गर्म बना रहता है।

—"नहीं सरकार, वह तो बड़ी देर हुई खाली हो चुका।"

नवयुवक ने कहा—"अच्छा तब तक लाओ पान ही खायँ, कुछ देर तो प्यास रुकेगी।"

अनिरुद्धसिंह ने अपनी जेब से चाँदी का डब्बा निकाल कर नवयुवक को दिया। नवयुवक ने दो पान निकाल कर खा लिये और डब्बा अनिरुद्धसिंह को लौटा दिया।

थोड़ी देर तक सब लोग मौन बैठे रहे। अकस्मात ड्राइवर बोल उठा—"वह देखिए सामने गाँव दिखाई पड़ रहा है।"

अनिरुद्धसिंह ने कहा—"इसी गाँव में पानी पीकर और फ्लास्क भर कर आगे बढ़ेंगे।" दस मिनट में मोटर गाँव के पास पहुँच गयी। गाँव सड़क के किनारे ही पर था। सड़क के किनारे मोटर रोक दी गयी। अनिरुद्धसिंह फ्लास्क लेकर मोटर से उतर गया। नवयुवक ने कहा—"पानी ताज़ा लाना।"

अनिरुद्धसिंह बोला—"हाँ और क्या, बासी किस काम का होगा।"

यह कहकर वह चला। गाँव में घुसते ही सामने एक कुआँ दिखायी पड़ा जिस पर दो-तीन आदमी पानी भर रहे थे। अनिरुद्धसिंह कुएँ के पास जाकर एक व्यक्ति से बोला—"भई, थोड़ा पानी दे सकते हो?"

एक व्यक्ति ने पूछा—"क्या पियोगे?"

अनिरुद्धसिंह बोला—"पियेंगे भी और ले भी जायँगे।"

—"काहे में ले जाओगे, कोई लोटा-वोटा है?"

अनिरुद्धसिंह हाथ में फ्लास्क लिये था उसको उठाकर बोला—"इसमें ले जायँगे।"

—"इसमें तो चमड़ा लगा है, इसका पानी तुम पी लोगे?"

—"हाँ पीते ही हैं--शिकारी आदमी ठहरे; ऐसा विचार करें तो काम कैसे चले।"

कुएँ पर उपस्थित व्यक्ति के मुख पर विस्मय- मिश्रित घृणा का भाव उत्पन्न हुआ ! एक ने कुएँ में लोहे का कलसा डालते हुए पूछा--"आपका स्थान कहाँ है ?"

—"जसवन्तपुर !"

"अच्छा ! जसवन्तपुर के ठाकुर तो हमारे मालिक हैं—यह गाँव उन्हीं के इलाके मैं है।" एक व्यक्ति ने कहा।

—"हाँ, मैं जानता हूँ -मैं उन्हों का नौकर हूँ और पानी कुँवर साहब के लिए ही लेने आया हूँ।"

"अच्छा ! कुँवर साहब कहाँ हैं ?" एक साथ दो व्यक्तियों ने बहुत ही उत्सुक तथा विस्मित होकर पूछा।

--"सड़क पर मोटर में हैं।"

- "ओहो, तब तो गाँव के भाग खुल गये। किन्तु भइया उन्हें यहीं ले आते---हम कुछ उनकी सेवा कर लेते--गाँव पवित्र हो जाता।"

-"यहाँ क्या करेंगे आकर, कहीं बैठने की जगह भी तो नहीं है।"

—"हाँ, उनके लायक जगह तो नहीं है। चौपार में पलंग बिछवा देते, दिन भर बैठ कर चले जाते।"

—"तो भाई तुम लोग चलकर कहो तो शायद चलें आवें, मैं तो कह नही सकता।"

"अच्छा, हम चलते हैं। उत्तमसिंह तुम जाकर चौपार में पलंग लगवाओ। देखो मन में आवे तो शायद आ ही जायँ।"

उनमें से एक व्यक्ति तुरंत चल दिया। शेष दो व्यक्ति अनिरुद्ध के साथ चले। तुरन्त गाँव में हल्ला हो गया कि कुँवर साहब आये हैं। अतएव इन तीनों व्यक्तियों के मोटर तक पहुँचते-पहुँचते आठ दस आदमी तथा बालकों की भीड़ पहुँच गयी। अनिरुद्धसिंह ने कुँवर साहब से कहा—"ये लोग हुजूर से कुछ कहना चाहते हैं।"

कुँवर साहब अप्रसन्न होकर बोले—"अरे भई, तुम पानी लेने गये थे, ये फौज कहाँ से इकट्ठा कर लाये ?"

अनिरुद्धसिंह के कुछ कहने के पूर्व ही एक व्यक्ति हाथ जोड़कर बोला—"अन्नदाता, आज हमारे बड़े भाग है जो सरकार यहाँ आ गये। दिन भर के लिए गाँव में चले चलिए, सब आपका दर्शन कर लेंगे और आपके जूतों की रज से गाँव पवित्र हो जायगा।"

कुँवर साहब ऊबते हुए बोले—"भई, मैं न जाने कहाँ से थका-थकाया चला आ रहा हूँ। इस समय मुझे एक-एक क्षण भारी हो रहा है। फिर कभी जब इधर आऊँगा तो कुछ देर के लिए गाँव में चला चलूँगा।"

इस पर सब लोगों ने हाथ जोड़कर अनुनय विनय करना आरम्भ किया। अन्त में अनिरुद्धसिंह की ओर देखकर कुँवर साहब ने पूछा—"क्यों भई, ये लोग तो मानते नहीं, क्या राय है ?"

—"सरकार आपकी प्रजा है, मिनट दो मिनट के लिए चले चलिए, इनका चित्त प्रसन्न हो जायगा।"

कुँवर साहब हैट उठाकर बोले—"अच्छा भई चलो !"

(२)

जसवन्तपुर के ठाकुर जोरावरसिंह एक बड़े जागीरदार हैं। उनकी वार्षिक आय तीन लाख रुपये के लगभग है। जसवन्तपुर में उनकी एक बहुत बड़ी कोठी है तथा अनेक हाथी-घोड़े और मोटरें हैं। उपर्युक्त घटना के एक मास पश्चात् संध्या-समय ठाकुर साहब कोठी के बाग में बैठे हुए थे। कोठी के हाते में ही बाग था। बाग के मध्य में सुन्दर घास से ढका हुआ भूमि का एक बड़ा टुकड़ा था। इस भूमि के टुकड़े के मध्य

में संगमरमर का गोलाकार चबूतरा था। जिस पर बीच में एक गोल-मेज तथा उसके आस-पास सुन्दर गद्देदार कुर्सियाँ लगी हुई थी। इन्हीं में से एक आरामकुर्सी पर ठाकुर जोरावरसिंह लेटे हुए चैत्र मास की सांध्यकालीन शीतल समीर का आनन्द ले रहे थे। उनके समीप तीन-चार व्यक्ति बैठे हुए थे। चबूतरे के ऊपर नीचे चार-पाँच सेवक हाथ-बाँधे खड़े थे।

सहसा ठाकुर साहब ने पूछा—"बख्तावरसिंह आ गया?"

एक सेवक ने आगे बढ़कर कहा—"नहीं, हुजूर, अभी तक तो कुँवर साहब आये नहीं।"

—"न जाने कहाँ रह गया, सूर्यास्त हो चुका। आज कल उसे शिकार का ऐसा चस्का लगा है कि नित्य शिकार को जाता है और लुत्फ यह कि मिलता-मिलाता कुछ नहीं। खाली हाथ लौटता है, पर जाता नित्य है। मुझे जब शिकार का शौक था तब मैं खाली हाथ तो कभी लौटा नही।"

पास बैठा हुआ एक व्यक्ति बोला—"आपका निशाना भी तो अचूक होता था। मेरे पिता आपके साथ दो चार बार गये हैं, वह बताया करते हैं—(अन्य व्यक्तियों की ओर देख कर) कहते हैं कि जिस पर आपने बंदूक तान दी फिर वह बचा ही नहीं। ऐसा लाजबाव निशाना लगाते थे।"

ठाकुर साहब मुस्करा कर बोले—"वह समय ही और था। उस समय शौक था। अब हम वैसा निशाना नहीं लगा सकते—शौक नहीं रहा इसलिए अभ्यास भी नहीं रहा।"

"—फिर भी मेरा तो यह विश्वास है कि अब भी आपका निशाना शायद ही चूके।"

अरे नहीं, अब दह बात नहीं रही। अब तो बन्दूक भी साधना कठिन है।"

इसी समय मोटर की घर-घराहट सुनायी पड़ी। ठाकुर साहब ने एक नौकर से कहा—"देखो शायद बख्तावर आ गया। आगया हो तो यहाँ बुला लाओ।"

थोड़ी देर पश्चात् कुँवर साहब आये। वही खाकी पोशाक पहने हुए आकर ठाकुर साहब के सन्मुख एक कुर्सी पर बैठ गये और रूमाल से मुँह पोंछने लगे।

ठाकुर साहब ने पूछा—"अरे भई, आजकल रोज शिकार को जाते हो—क्या बात है?"

कुँवर साहब कुछ क्षणों के लिए सिटपिटाये परन्तु शीघ्र ही सँभल कर बोले—ऐसे ही जरा चित्त बहल जाता है।"

—"परन्तु लाते तो कुछ भी नहीं हो, खाली हाथ लौट आते हो।"

—"मेरा उद्देश्य अधिकतर जंगल के दृश्य देखना रहता है, शिकार खेलना नहीं।"

—"अरे तो ऐसा जंगल-देखना किस काम का कि सबेरे से निकलो तो शाम को लौटो।"

—"नहीं, रोज तो ऐसा नहीं होता कभी-कभी हो जाता है।"

—"मैं तो रोज ही देखता हूँ। कल भी देर से लौटे थे।"

—"हाँ कल भी देर हो गयी थी, परन्तु इसके पहले तो सदैव जल्दी आ जाता रहा।"

—"आ जाते होगे। इस प्रकार दिन-दिन भर गायब रहना ठीक नहीं। कभी-कभी ऐसा हो जाय तो हर्ज नहीं, परन्तु नित्य ऐसा न होना चाहिए। इस प्रकार अकेले घमना ठीक नहीं। सौ दोस्त सौ दुश्मन।"

अन्तिम वाक्य ठाकुर साहब ने पास बैठे हुए अन्य लोगों की ओर देख कर कहा।

उनमें से एक बोला—"ठीक है, आपका कहना बिल्कुल दुरुस्त है। आजकल समय बड़ा खराब है।"

—"अब तुम कुछ दिनों के लिए यह शिकारबाजी छोड़ दो।"

—"छूट ही जायगी। जब तक जरा ठंडक है तभी तक है, जब गर्मी पड़ने लगेगी तब फिर कौन जाता है। पन्द्रह-बीस दिन की बात और है।"

—"तो क्या कोई कसम है कि जब तक गर्मी न पड़ने लगे तब तक शिकार छोड़ो ही नहीं।"

—"नहीं कसम काहे की है। अब जल्दी आ जाया करूँगा।"

—"परन्तु अभी जाओगे जरूर ?" ठाकुर साहब ने कुछ अप्रसन्न हो होकर कहा।

—"यदि आपकी आज्ञा हो तो एकदम जाना बन्द कर दूँ, अन्यथा वैसे तो मैं कोई हर्ज नहीं सयझता। और रही दोस्त दुश्मनों की बात सो उसके लिए तो साथ में दो-दो बन्दूकें रहती हैं, पिस्तौल रहते हैं।"

—"अच्छा भई, जैसा उचित समझो करो, मेरा काम तो समझाना था। जाओ कपड़े बदल डालो।"

कुँवर साहब उठ कर चले। थोड़ी दूर आगे बढ़ कर एक सरो-वृक्ष की आड़ में अनिरुद्धसिंह खड़ा था। उसने कुँवर साहब को देख कर पूछा—"सब कुशल !"

—"हाँ सब ठीक है ?"

—"मेरा तो कलेजा धक से हुआ था कि कहीं सरकार को खबर तो नहीं लग गयी।"

कुँवर साहब हँस कर बोले—शङ्का तो मुझे भी हुई थी। परन्तु बात कुछ और निकली। उन तक खबर पहुँचना कठिन है। जब किसी

को मालूम हो तब तो खबर पहुँचे। वहाँ का कोई आदमी यहाँ आता नही।"

—"इसके अतिरिक्त मैंने वहाँ के सब आदमियों से कह दिया है कि यदि किसी ने जाकर बड़े सरकार तक यह खबर पहुँचायी तो वह जीवित ही दफन करा दिया जावेगा!" अनिरुद्धसिह ने कुछ अभिमान के साथ कहा।

कुँवर साहब हँस कर कोठी की ओर चल दिये। अनिरुद्धसिह अकड़ता हुआ दूसरी ओर चला गया।

(३)

उपर्युक्त घटना हुए एक वर्ष व्यतीत हो गया। कुँवर बख्तावरसिह अब शिकार खेलने बहुत ही कम जाते हैं। यदि उनसे शिकार खेलने का कोई प्रस्ताव भी करता है तो बहुधा टाल जाया करते हैं।

दोपहर का समय था। कोठी के एक सुसज्जित कमरे में कुँवर साहब कुछ मित्रों के साथ ताश खेल रहे थे। इस समय एक सेवक एक तश्तरी पर एक मैला-सा लिफाफा रखे हुए लाया। उसने झुक कर तश्तरी कुँवर साहब के सन्मुख की। कुँवर साहब ने पहले कुछ क्षणों तक लिफाफे को ध्यानपूर्वक देखा तत्पश्चात सेवक से पूछा—कौन लाया है?"

—"मैं तो पहचानता नही हुजूर, एक देहाती है।"

उपस्थित मित्रों में से एक बोला—"बड़ा डर्टी (मैला) लिफाफा है।" कुँवर साहब ने उसकी बात पर ध्यान न देकर लिफाफा उठा लिया और उसे खोल कर पढ़ना आरंभ किया। दो चार पंक्तियाँ पढ़ कर ही उनका मुख पीला पड़ गया। उन्होंने मित्रों से कहा—"मैं अभी

क्षण भर में आता हूँ ।"

यह कह कर वह उस कमरे से मिले हुए दूसरे कमरे में चले गये। वहाँ एक कुर्सी पर बैठ कर उन्होंने बड़े ध्यानपूर्वक पत्र पढ़ा—एक बार नहीं कई बार पढ़ा। इसके पश्चात उठ कर टहलने लगे। उनके मुख पर चिंता के गहरे चिह्न थे। थोड़ी देर तक टहलने के पश्चात उन्होंने घंटी बजायी, तुरन्त एक नौकर उपस्थित हुआ। कुँवर साहब ने कहा—"मँगली को भेजो।"

नौकर बाहर चला गया। थोड़ी देर पश्चात वही नौकर जो पत्र लाया था हाजिर हुआ। उससे कुँवर साहब ने पूछा—"जो आदमी यह चिट्ठी लाया है, वह है या चला गवा ?

—"अभी तो बाहर बैठा है, जवाब की राह देख रहा है।"

—"अच्छा तो उससे कह दो कि जवाब भेजवा दिया जायगा।"

—"बहुत अच्छा।"

नौकर चला गया। कुँवर साहब ने चिट्ठी को फाड़ कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया तत्पश्चात् पुनः बाहर आकर बैठ गये और ताश खेलने लगे। थोड़ीं देर तक ताश खेलने के पश्चात् कुँवर साहब बोले—"अब हटाओ तबियत नहीं लगती। थोड़ी देर सोऊँगा, नींद मालूम हो रही है।" इतना कह कर कुँवर साहब उठ खड़े हुए और पुनः उसी कमरे में चले गये। वहाँ पहुँच कर उन्होंने घंटी बजायी। नौकर के आने पर उन्होंने उससे कहा—"जरा अनुरुद्धसिंह को बुला दो।"

"जो हुक्म" कह कर नौकर चला गया। कुँवर साहब सिर पर हाथ रख कर चिन्ता-सागर में मग्न हो गये। थोड़ी देर पश्चात अनिरुद्धसिंह उपस्थित हुआ। कुँवर साहब ने उसे बैठने के लिए हाथ से सङ्केत किया। अनिरुद्धसिंह बैठ गया। थोड़ी देर तक दोनों चुप रहे।

"आज सरकार कुछ चिंतित से हैं।" अनिरुद्धसिंह ने कहा।

कुँवर साहब ने एक दीर्घ निश्वास छोड़ कर कहा—"अभी एक चिट्ठी आयी थी।"

—"कहाँ से ?"

—"वहीं से !" कुँवर साहब ने रहस्यपूर्ण दृष्टि से अनिरुद्धसिंह की ओर देखते हुए कहा।

—"अच्छा ! कोई खास बात ?"

—"उफ् ! क्या बताऊँ बड़ी मनहूस बात है।"

—"भगवान कुशल करे, मेरा तो कलेजा धड़कने लगा। क्या वह बात मेरे सुनने योग्य है ?"

—"तुमसे छिपा क्या है ! अनिरुद्ध, तुम ही तो एक ऐसे आदमी हो जो मेरी सब बातें जानते हो।"

—"सरकार की मेरे ऊपर दया है, अन्यथा मेरी हस्ती ही क्या है।"

—"बात यह है कि उसके पुत्र उत्पन्न हुआ है।"

—"हैं ! ऐसी बात है !" अनिरुद्धसिंह ने चौंक कर कहा।

—"हाँ, और इतना ही नहीं, अचलसिंह ने लिखा है कि यदि मेरी ओर से कोई उचित प्रबन्ध न किया गया तो वह मेरे पिताजी से सब बातें कह देगा।"

—"अच्छा ! यहाँ तक नौबत पहुँच गयी ?"

—"हाँ !"

—"यह तो बड़ी बुरी खबर है।"

—"इससे अधिक बुरी खबर और क्या होगी।"

—"तो फिर क्या होना चाहिए ?"

—"मैं तो इस सयय विचार-शून्य हो रहा हूँ, तुम्हीं कुछ सोचो।"

अनिरूद्धसिंह कुछ क्षणों तक सोचकर बोला—"यदि आप आज्ञा दें तो मैं जाकर अचलसिंह से मिलूँ और उसे समझा-बुझाकर डरा-धमका कर रोकूँ।"

कुंवर साहब ने प्रसन्न मुख होकर कहा—"यह तुमने ठीक उपाय सोचा। यही होना चाहिए और विलम्ब मत करो, इसी समय चले जाओ।"

—"अभी जाता हूँ, घोड़े पर जाऊँ ?"

—"घोड़े पर तो देर लगेगी, क्योंकि शाम तक लौटना भी तो है। कार ले जाओ।"

—"बहुत अच्छा!" यह कह कर अनिरुध्दसिंह उठ खड़ा हुआ। कुँवर साहब—"और कुछ रुपया भी लेते जाना।"

—हाँ असली काम तो रुपये से ही होगा। कितना ले जाऊं ?"

—"हजार-पन्द्रह सौ ले जाओ, यदि आवश्यकता होगी तो फिर भेजवा दिया जायगा।"

"यहुत अच्छा।" कहकर अनिरुध्दसिंह विदा हुआ।

(४)

ठाकुर जोरावरसिंह अपने "प्राइवेट रूम" में बैठे हुए थे, उनके सामने एक देहाती हाथ जोड़े बैठा था। ठाकुर साहब बहुत ही गम्भीर तथा चिन्तित थे। कुछ देर पश्चात उन्होंने कहा—"हू, यह मामला है!"

—"हाँ अन्नदाता, इसमें एक अक्षर भी झूठ हो तो आप मेरी खाल निकलवा कर भूसा भरवा दें।"

—"अच्छा, तुम दूसरे कमरे में चले जाओ मैं बख्तावर को बुलवाता हूँ।"

इतना कहकर ठाकुर साहब ने उस कमरे से मिले हुए एक कमरे की ओर संकेत किया। देहाती उठ कर चला गया। ठाकुर साहब ने घंटी वजायी। एक सेवक हाजिर हुआ। उससे उन्होंने कहा—"जरा बख्तावर को बुला दो।" थोड़ी देर पश्चात कुंवर साहब आये। उन्होंने पूछा—"क्या आज्ञा है पिता जी ?" ठाकुर साहय बोले—"बैठो !"

कुंवर साहब पिता के सामने बैठ गये और सशंकित नेत्रों से उनकी ओर ताकने लगे।

ठाकुर साहब ने कहा—"एक साल पहले की बात है तुम शिकार खेल कर लौट रहे थे, उस समय तुम पानी पीने के लिए मकरन्दपुर में रुके थे ?"

कुंवर साहब का मुख श्वेत पड़ गया। हृदय डूबने सा लगा। उन्होंने बड़ी कठिनता से संभलकर कहा—"जी !"

—"उस समय गाँव वालों के अनुनय-विनय करने पर तुम गाँव के मुखिया कालीप्रसादसिंह के यहाँ गये थे ?"

कुँवर साहब अपने सूखे होठों पर जीभ फेरते हुए बोले—"जी"

—"वहाँ किसी प्रकार तुम्हारी दृष्टि कालीप्रसाद की कन्या पर पड़ी थी ?"

कुँवर साहब ने सिर झुका लिया। वह मन ही मन ईश्वर से प्रार्थना करने लगे कि धरती फट जाय और वह उसमें समा जायँ।

कुँबर साहब को मौन देख कर ठाकुर साहब ने कर्कश स्वर में कहा—"बात का उत्तर दो !"

कुँवर साहब बोले—"जी हाँ।"

—"उसके पश्चात तुम दो चार बार अपने आप मुखिया के यहाँ गये ?"

"जी हाँ, गया था।" कुँवर साहब ने सिर झुकाये हुए उत्तर दिया।

—"उसके पश्चात् तुमने मुखिया से उसकी कन्या के साथ गुप्त रूप से विवाह करने का प्रस्ताव भेजवाया था ?"

—"तुमने मुखिया से यह भी वायदा किया था कि थोड़े ही दिनों पश्चात् तुम उसकी कन्या को खुले रूप से अपनी पत्नी बना लोगे ?"

कुँवर साहब मौन रहे। ठाकुर साहब कड़क कर बोले—"फिर चुप्पी साधी, मैं कहता हूँ कि मेरी बातों का जवाब देते रहो—हाँ कहो या नहीं।"

कुँवर साहब ने क्षीण स्वर में कहा—"हाँ !"

—"विवाह हो जाने पर तुम दो महीने तक मुखिया के यहाँ प्राय: नित्य जाते रहे, इसके पश्चात् तुमने जाना-आना एकदम बन्द कर दिया और समय-समय पर तुम उसके पास रुपये भेजवा कर उसकी तुष्टि करते रहे। अभी-अभी तीन चार दिनों की बात है मुखिया ने तुम्हें लिखा कि उसकी लड़की के पुत्र उत्पन्न हुआ इसलिए अब तुमको उसे पत्नी-रूप में ग्रहण करना चाहिए !"

—"जी हाँ !"

—"इस पर तुमने उसके पास फिर रुपया भेजवाया और साथ ही यह धमकी भी दी कि यदि वह चुप न रहेगा तो उसके हक में अच्छा न होगा।"

कुँवर साहब के नेत्रों में आँसू छल-छला आये, उन्होंने गद्गद कन्ठ से कहा—"मैंने धमकाया नहीं, केवल प्रार्थना की थी।"

इतना सुनकर ठाकुर साहब उठे और जिस कमरे में कालीप्रसाद सिंह छिपा हुआ था उसके द्वार पर जाकर बोले—"कालीप्रसादसिंह, बाहर आओ !"

कालीप्रसाद बाहर आ गया। ठाकुर साहब पुनः अपने स्थान पर आ बैठे। ठाकुर साहब ने उससे कहा—"बख्तावर तो कहता है कि प्रार्थना की थी, धमकाया नहीं था।"

कालीप्रसादसिंह हाथ जोड़कर बोला—"अन्नदाता! अनिरुद्धसिंह ने मुझसे यह कहा था कि यदि तुम चुप न बैठोगे और अधिक गड़बड़ करोगे तो तुम्हें मिट्टी में मिला दिया जायगा। उसके ये शब्द थे अन्नदाता!"

कुँवर साहब ने कहा—"उसने अपनी ओर से यह कह दिया होगा, मैंने उससे ऐसा नहीं कहा था।"

ठाकुर साहब बोले—"खैर कुछ भी हो, यह बात अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। देखो कालीप्रसादसिंह, तुमने बिना मुझे सूचना दिये, बिना मुझसे पूछे अपनी कन्या का विवाह गुप्त रूप से मेरे लड़के के साथ करके लोक-व्यवहार के यिरुद्ध किया, इसके लिए तुमको दण्ड मिलाना चाहिए!"

—"मैं दण्ड सहने को तैयार हूँ।"

—"परन्तु साथ ही तुमने केवल रुपये से सन्तुष्ट न होकर अपने आत्मगौरव का परिचय दिया है। तुम्हारी परिस्थिति में बहुत से लोग केवल धन पाकर ही सन्तुष्ट हो जाते, परन्तु तुमने ऐसा न करके सच्चे क्षत्रीपन का परिचय दिया है, इस कारण मैं तुम्हारी कन्या को अपनी पुत्रबधू स्वीकार करता हूँ। परन्तु तुमने जो अपराध किया है उसका तुम्हें यह दण्ड दिया जाता है कि तुम अब मेरे जीवन-काल में अपनी कन्या का मुख नहीं देख सकोगे। सब, अपनी कन्या को बुलाओ!"

कालीप्रसाद एक दूसरे कमरे में चला गया, और जब वहाँ से बाहर आया तो उसके पीछे एक युवती थी। युवती की वयस अठारह-उन्नीस वर्ष की होगी, और देखने में बहुत रूपवती थी। उसकी गोद में एक बच्चा था।

ठाकुर साहब बोले—"अब तुम जाओ। आज से जब तक मैं जीवित हूँ तब तक कभी यहाँ आने का साहस न करना।" अपनी कन्या से बिदा हो लो।

कालीप्रसादसिंह के नेत्रों से अश्रु बहने लगे। उसने हाथ जोड़कर कहा—"अन्नदाता को जय हो! आपने मेरे साथ न्याय किया।" इतना कहकर उसने कन्या के सिर पर हाथ फेरा बच्चे को प्यार किया और एकदम कमरे के बाहर हो गया। युवती रोने लगी!

ठाकुर साहब ने एक बटन दबाया। दासी आकर उपस्थित हुई। बोले—"ठकुराइन को भेजो!"

थोड़ी देर पश्चात प्रौढ़वयस्का ठकुरायन आयीं। उन्होंने चकित नेत्रों से युवती की ओर देखा। ठाकुर साहब बोले—"क्या देखती हो, यह तुम्हारी पुत्रबधू है और इसकी गोद में जो बच्चा है वह तुम्हारा पौत्र है।"

ठकुरायन अचकचा कर बोलीं—"मैं समझी नहीं।"

ठाकुर साहब ने संक्षेप में सब बता दिया और अन्त में बोले—"यह अबला निर्दोष है। जब इसका विवाह हमारे लड़के के साथ हो चुका है, तब हमें इसे पुत्रबधू के रूप में ग्रहण करना ही चाहिए। जोरावरसिंह ने कभी अपने शत्रु के साथ भी अन्याय नहीं किया तब एक अबला के साथ अन्याय कैसे करता। जाओ इसे साथ ले जाओ।"

ठकुरायन बोलीं—"परन्तु लड़के के ब्याह की बातचीत जो हो रही है, उसका क्या होगा?"

—"मेरे जीवन काल में अब बख्तावर का दूसरा विवाह नहीं हो सकता। जब इसने स्वयं अपना विवाह कर लिया तो मुझे इसका

विवाह् करने की क्या आवश्यकता।''

ठाकुरायन ने युवती को अपने अङ्क में ले लिया और अन्त:पुर की ओर ले चलीं। यद्यपि इस आकस्मिक पुत्रबधू प्राप्ति पर उनके मुख पर दु:ख तथा क्षोभ का भाव था; परन्तु साथ ही युवती का नखशिख और पौत्र की मनो-मोहक मूर्ति देख, दु:ख तथा क्षोभ के भावों का कवच फाड़कर सन्तोष तथा आन्तरिक प्रसन्नता के भाव प्रस्फुटित हो रहें थे।

गुण-ग्राहकता

रात के आठ बज चुके थे। शुक्लपक्ष की चतुर्दशी का चन्द्रमा अपनी रौप्य रश्मियों द्वारा संसार को शीतल-शुभ्र प्रकाश प्रदान कर रहा था। इसी समय दो घुड़सवार धीमी चाल से जङ्गल की कच्ची सड़क पर चले जा रहे थे। दोनों नवयुवक थे और वेष-भूषा से किसी धनाढ्य सम्भ्रांत परिवार के कुलदीपक प्रतीत होते थे।

सहसा उनमें से एक युवक अपनी रिष्टवाच देखकर बोला—"आठ बज गया है; दस बजे तक पहुँच जायँगे।"

दूसरे ने कहा—"हाँ, दज बजे तक तो अवश्य ही पहुँच जायँगे।"

—"कितनी सुन्दर चाँदनी है। ऐसी चाँदनी में यदि रात भर भी चलना पड़े तब भी तबियत ऊब नहीं सकती।"

—"क्या बात है चांदनी रात की! रात में यात्रा करने का आनन्द तो चाँदनी रात में ही आता है।"

—"इसमें क्या सन्देह है !"

थोड़ी देर तक दोनों मौन रहे। तदुपरांत एक युवक बोला—"अब जरा तेज चलना चाहिए नहीं तो घर पहुँचने में विलम्ब हो जायगा।"

दूसरा बोला—"उँह, विलम्ब हो तो हो जाय। मुझे तो धीमी चाल में ही आनन्द आ रहा है।"

—"विलम्ब होने से महाराज अप्रसन्न होंगे।"

—"तो कुछ इतना अधिक विलम्ब थोड़े ही होगा।"

—"जैसी आपकी इच्छा।" कह कर दूसरा युवक चुप हो गया। कुछ देर तक पुनः दोनों मौन हो कर चलते रहे। कुछ दूर चलने पर उन्हें आगे रास्ते में कुछ खटका सुनाई पड़ा। घोड़ों ने भी कनौतियाँ बदलीं। पहले युवक ने घोड़ा रोक कर कहा—"ठहरो महेन्द्र! आगे कुछ खटका-सा सुनाई पड़ रहा है।"

महेन्द्र अपना घोड़ा रोक कर बोला—"हाँ, कुछ सुना तो मैंने भी है।"

दोनों युवक कान लगाकर सुनने लगे, परन्तु नीरवता की सनसनाहट के अतिरिक्त उन्हें और कोई शब्द नहीं सुनायी पड़ा।

महेन्द्र बोला—"हम लोगों को भ्रम हुआ—कोई खटके की बात नहीं है।"

पहला युवक बोला—"सम्भव है भ्रम ही हुआ हो; परन्तु कुछ शब्द अवश्य हुआ था।"

—"यों तो फिर जङ्गल ही है। किसी जङ्गली जानवर के चलने-फिरने का शब्द हुआ होगा।" महेन्द्र ने कहा।

—"शायद यही बात हो।" कह कर युवक ने घोड़ा बढ़ाया। महेन्द्र ने भी उसका अनुकरण किया। लगभग दो सौ गज चलने पर

दोनों एक ऐसे स्थान पर पहुँचे जहाँ सड़क के दोनों ओर सघन वृक्ष थे अतएव वहाँ बिलकुल अँधेरा था। जैसे ही ये दोनों वहाँ पहुँचे वैसे ही अँधेरे से आठ-दस घुड़सवारों ने निकल कर इन दोनों को घेर लिया और किसी ने चिल्ला कर कहा—"खबरदार, अपनी जान बचाना चाहो तो आत्मसमर्पण कर दो।"

—"कदापि नहीं" इन शब्दों के साथ ही दो बार धड़ाम-धड़ाम पिस्तौल छूटने का शब्द हुआ और साथ ही दो अग्नि-रेखायें चमक कर विलीन हो गयीं। इसके उपरान्त तुरन्त ही दो आदमियों की चीत्कार सुनाई पड़ी। एक घुड़सवार उस भीड़ में से निकल कर भागा। उसी समय महेन्द्र के साथी के कण्ठस्वर से ये शब्द सुनाई पड़े—"सूर्यपाल, मुझे तो इन लोगों ने पकड़ लिया, तुम निकल जाओ।" सूर्यपाल घोड़ा भगाये हुए चला गया और कुछ ही क्षणों में अदृश्य हो गया।

आक्रमणकारियों में से एक ने कहा—"सूर्यपाल निकल गया, यह बुरा हुआ।"

दूसरा बोला—"कहिए तो पीछा करें।"

—"व्यर्थ है। इस समय रात में उसे पकड़ना एक असम्भव सी बात है। क्योंजी, तुम्हारे अधिक चोट तो नहीं लगी?"

—"जी नहीं, केवल हाथ में गोली लगी है—रूमाल से बांध लिया है।"

—"और तुम्हें?"

—"मेरे कन्धे में हल्का-सा घाव हुआ है।"

—"तब कोई बात नहीं। अच्छा इन्हें अपने बीच में लेकर चलो। घबराने की बात नहीं है। इनकी पिस्तौल छीन ली है।"

सब सवारों ने युवक को बीच में कर लिया और जिस ओर से दोनों युवक आये थे फिर उसी ओर को लौट पड़े।

(२)

राजप्रासाद के एक सुसज्जित कमरे में वही युवक एक मखमली कौच पर चिन्तामग्न बैठा था। उसके पास ही एक सुन्दर गोल मेज पर गंगा-जमुनी फल-पात्र में अनेक प्रकार के फल रखे हुए थे। युवक रह-रह कर कमरे के द्वार की ओर देखता था, परन्तु उसकी दृष्टि द्वार के मखमली आवरण से टकरा कर लौट आती थी। कभी-कभी वह भूमि पर बिछे हुए मोटे ऊनी कालीन पर पैर पटक कर अपने ही आप कह उठता था---"ओह ! मैंने बड़ी भूल की।" इसके पश्चात् वह उठकर खड़ा हो जाता और टहलने लगता। टहलते-टहलते व कमरे की खिड़की के पास जाकर खड़ा हो जाता और राजप्रसाद के बाग तथा बाग के पश्चात् राजप्रसाद की प्राचीर को नैराश्य पूर्ण दृष्टि से देखता। इसके पश्चात् उसकी दृष्टि राजप्रसाद के विशाल सिंहद्वार पर पड़ती। सिंहद्वार पर बन्दूकधारी सन्तरियों को देखता और एक दीर्घ विश्वास छोड़कर मखमली "ईजीचेयर" पर आ बैठता था।

सहसा द्वार पर लगा हुआ मखमली पर्दा बीच से फटा और एक व्यक्ति भीतर प्रविष्ट हुआ। यह व्यक्ति खाकी ब्रीचेज तथा खाकी कोट पहने था और खाकी साफा बाँधे था। बगल में दाहिनी ओर एक पिस्तोल लटक रही थी। इस व्यक्ति ने पहले सिर झुका कर युवक का अभिवादन किया तत्पश्चात तन कर फौजी ढंग से खड़ा हो गया और बोला—"श्रीमान को महाराज ने याद फरमाया है।"

युवक ने बड़ी लापरवाही से उस व्यक्ति की ओर देखा तत्पश्चात उठ कर कोच पर से अपना रेशमी साफा उठा कर पहना। इसके उपरान्त उसने अपने खाकी कोट को खींच कर ठीक किया। "चलो, मैं तैयार हूँ" कहकर वह आगंतुक की ओर बढ़ा। आगंतुक शिष्टतापूर्वक

पर्दे को खोल कर खड़ा हो गया। पर्दे के बाहर द्वार पर दो-संतरी नंगी तलवार लिये खड़े थे। सामने लम्बा चौड़ा रास्ता था, जिसमें संगमरमर के स्तम्भों की दो कतारें दूर तक चली गयी थीं। स्तम्भों की कतारें भूमि पर गड़े हुए संगमरमर के दर्पणवत् टाइल्स पर प्रतिबिम्वित हो रही थीं। आगंतुक आगे हो गया, उसके पीछे युवक और युवक के पीछे दोनों संतरी, इस प्रकार ये लोग चले। लम्बा रास्ता पार करके ये लोग दाहिने हाथ घूमे और थोडी दूर चलने के पश्चात् एक ऐसे द्वार के सम्मुख पहुँचे जिसके दोनों ओर दो-दो संतरी नंगी तलवारें लिये खड़े थे।

द्वार के सम्मुख पहुंचकर आगन्तुक रुक गया। उसने युवक को आगे कर दिया और स्वयं उसके पीछे हो गया। इसके पश्चात् उसने युवक से कहा—"चलिये!" युवक आगे बढ़ा, आगन्तुक पीछे-पीछे चला। द्वार के बाद नीली रेशम का पर्दा था। ज्योंही युवक पर्दे के पास पहुँचा दो परिचारकों ने पर्दा खोल दिया—युवक भीतर चला गया—आगन्तुक लौट आया।

जिस कमरे में युवक पहुँचा वह एक बड़ा कमरा था। उसका सब सामान नीले रंग का था। नीले रेशम से मढ़े हुए अनेक कोच तथा आराम कुर्सियाँ लगी हुई थीं। भूमि पर नीले रंग के मखमली कालीन बिछे हुए थे। द्वार तथा खिड़कियों पर नीली रेशम के पर्दे पड़े हुए थे।

एक आरामकुर्सी पर एक अर्द्धवयस्क व्यक्ति बैठा हुआ था। उसके शरीर पर रेशमी धोती तथा रेशमी कुर्ता था, सिर खुला हुआ था। युवक ने सिर झुका कर उस व्यक्ति का अभिवादन किया। उस व्यक्ति ने हाथ के इशारे से एक आरामकुर्सी की ओर इशारा करके कहा—"बैठो।" युवक अभिमानपूर्वक बोला—"इस समय मैं श्रीमान का बन्दी हूँ, इसलिए बैठ नहीं सकता।"

महाराज ने किंचित मुस्कराकर कहा—"यदि तुम बन्दी हो तो इसमें किस का अपराध है ?"

—"यदि अपराध है तो मेरा ही है।" युवक ने शान्त भाव से कहा।

—"तो तुम अपना अपराध स्वीकार करते हो ?"

—"मैंने यह कहा है कि यदि अपराध है तो मेरा है।" युवक ने गम्भीर भाव से उत्तर दिया।

महाराज हँस पड़े, बोले—"हाँ, यह बात है, ठीक है—यदि अपराध है—

—"परन्तु बन्दी लोग तो कारागार में रखे जाते है, तुम्हें तो कारागार में नहीं रखा गया।"

—"जो व्यक्ति गिरफ्तार करके लाया जाता है और जबरदस्ती किसी स्थान पर, चाहे वह कारागार हो या राजमहल, रोक रखा जाता है, वह मेरे तुच्छ विचार से बन्दी ही है।"

महाराज के माथे पर बल पड़ गये। उन्होंने किंचित कर्कश स्वर में कहा—"यदि तुम ऐसा समझते हो तो ऐसा ही सही। परन्तु राजकुमार होकर किसी दूसरे राज्य की सीमा में चोरों की तरह आना और राजकुमारी के बाग में जबरदस्ती संतरियों को घायल करके घुस जाना—यह तुम्हारे विचार से कैसी बात है ?" अन्तिम वाक्य कहते समय महाराज के मुख पर व्यंग्यपूर्ण मुस्कराहट आ गयी।

महाराज की बात सुन कर राजकुमार घबरा गया, एक क्षण के लिए उसके मुख पर ऐसा भाव प्रस्फुटित हुआ मानों उसके पास महाराज की बात का उचित उत्तर है, और उस उत्तर के शब्द उसके मुख से नहीं निकलते। परन्तु दूसरे ही क्षण वह पूर्ववत् गम्भीर होकर बोला—"यदि बाग का स्वामी मेरे उस कार्य को अपराध समझता है तो

निस्सन्देह वह अपराध ही है।"

—"बाग का स्वामी उसे अपराध न समझता तो तुम्हें गिरफ्तार क्यों करवाता ?"

राजकुमार के मुख पर मुस्कान की एक हल्की रेखा दौड़ गयी। उसने कहा—"यदि गिरफ्तार करवाया तो ठीक है ! मैं उसका दण्ड सहने के लिये प्रस्तुत हूँ।"

महाराज कुछ क्षणों तक सोचकर बोले—"परंतु यदि तुम अपनी अनधिकार चेष्टा के लिये क्षमा माँगों तो मैं तुम्हें क्षमा कर सकता हूँ।"

—"यदि क्षमा माँगने की आवश्यकता होगी तो क्षमा भी माँग लूँगा।"

—'आवश्यकता कब होगी ?" महाराज ने भृकुटी चढ़ाकर पूछा।

—"जब मैं क्षमा माँगूँगा।"

—"तो क्या क्षमा माँगने के लिये कोई विशेष अवसर आयेगा ?"

—"जी हाँ, और जब वह अवसर आयेगा तब मैं क्षमा माँग लूँगा।"

—"तो इसके यह अर्थ हुये कि तुम अभी यहाँ से छुटकारा नहीं चाहते।"

—"यदि मैं चाहूँ भी तो क्या मुझे छुटकारा मिल जायगा ?"

—"बेशक ! तुम चाहो तो इसी समय छुटकारा पा सकते हो।"

—"बन्दी बन कर रहना कौन पसन्द करेगा ?"

—"मेरा भी यही ख्याल है, इसीलिए मेरी तो यह सलाह है कि तुम इसी समय अपने कार्य के लिए पश्चात्ताप प्रकट करके क्षमा माँग लो—झगड़ा मिटे। आनंद से अपने घर जाओ।"

—"श्रीमान् अभी तो में क्षमा माँगने के लिए प्रस्तुत नहीं हूँ।"

—"अच्छी बात है। जैसी तुम्हारी इच्छा।"

इतना कहकर महाराज ने ताली बजायी। वही व्यक्ति जो राजकुमार को लाया था आकर उपस्थित हुआ। महाराज ने उससे कहा—"इन्हें जहाँ से लाये हो वहीं ले जाओ।"

(३)

रात का समय था। राजकुमार उसी कमरे में कौच पर लेटा हुआ था। उसे क्रमशः निद्रा आ रही थी। अकस्मात कुछ खटका होने से वह चौंक पड़ा। उसने सिर उठाकर द्वार की ओर देखा। द्वार पर दोनों हाथों से पर्दे के दोनों पल्ले पकड़े एक युवती खड़ी थी। युवती सुन्दरी थी और वेश-भूषा से राजकुमारी प्रतीत होती थी। राजकुमार उसे देखते ही एकदम उठकर बैठ गया और बोला—"तुम...तुम – !"

राजकुमारी ने होंठों पर ऊँगली रखकर चुप रहने का सङ्केत किया। राजकुमार उठ कर खड़ा हो गया। उसने धीमे स्वर में पूछा—"तुम यहाँ क्यों आयीं ?"

—"तुम्हें छुड़ाने के लिए।"

राजकुमार की भृकुटी तन गयी। उसने कहा—"मैं समझा नहीं—तुम्हारा क्या तात्पर्य है ?"

"—मेरा तात्पर्य यह है कि इस समय तुम निकल जा सकते हो। मैंने सब प्रबन्ध कर लिया है, किसी को कानों-कान खबर न होगी।"

राजकुमार मुस्कराया। उसकी मुस्कराहट में आत्म-गौरव तथा राजकुमारी के प्रति दया का भाव था। उसने कहा—"क्या तुम मेरा इस प्रकार निकल जाना पसन्द करोगी प्रभावती ?"

प्रभावती ने भोलेपन के साथ कहा—"क्यों, पसन्द क्यों न करूँगी, पसन्द न करती तो प्रबन्ध क्यों करती ?"

—"परन्तु मैं तो पसन्द नहीं करता। महेन्द्र इतना कायर और पतित नहीं है जो एक स्त्री की सहायता से चोरों की तरह भाग जाय।"

—"चोरों की तरह भागना बुरा हैं परन्तु चोरों की तरह आना बुरा नहीं है।" प्रभावती ने तिरछी चितवन के साथ कुछ मुस्कराते हुए कहा।

—"मेरे चोरों की तरह आने के लिए तो तुम और तुम्हारा आकर्षण उत्तरदायी है प्रभावती !" महेन्द्र ने प्रेम-पूर्ण दृष्टि तथा स्वर से कहा।

—"तो यहाँ से निकल जाने के लिए भी मुझे ही उत्तरदायी समझलो।"

"नहीं, इसके लिए तुम उत्तरदायी नहीं बन सकती। तुम्हारे दर्शनों के लिए चोरों की तरह आने के कारण मुझे वीरों के समाज में लज्जित नहीं होना पड़ेगा, परन्तु तुम्हारी सहायता से बन्धनमुक्त होकर चोरों की तरह भागने के कारण मुझे लज्जित होना पड़ेगा।"

—परन्तु यह रहस्य जान कौन सकेगा ?"

—"ऐसी बातें छिपी नहीं रहतीं। इसके अतिरिक्त स्वयं मेरा अन्तःकरण ही मेरा विरोधी है।"

—"तब यहाँ से छुटकारा कैसे मिलेगा ?"

—"सूर्यपाल निकल गया है, वह कोई युक्ति सोच रहा होगा—निश्चित नही बैठा होगा।"

—सूर्यपाल कदाचित ही कुछ कर सके।"

—"क्यों ?"

—यहाँ सूर्यपाल की दाल-गलना कठिन है।"

महेन्द्र हँस पड़ा। हँसते हुए बोला—"सम्भव है तुम्हारा ही कहना ठीक हो, परन्तु मैं ऐसा नहीं सोचता।"

—"यहाँ किसी विषेष व्यक्ति की सहायता के बिना केवल बाहरी सहायता से काम न चलेगा।"

—"खैर, यदि तुम्हारे दर्शन होते रहे तो मुझे इस दशा में रहना भी स्वीकार है।"

प्रभावती ने लज्जित होकर सिर झुका लिया। कुछ क्षणों तक दोनों मौन रहे, तत्पश्चात् महेन्द्र ने कहा—"परन्तु यह तो बताओ कि उसी दिन तुम्हारे बाग के संतरियों ने मुझे रोका क्यों?"

—"पिताजी को तुम्हारे आने का कुछ आभास मिल गया था, अथवा केवल संदेह ही था, यह मै ठीक नहीं कह सकती, परन्तु किसी कारणवश उन्होंने उसी दिन पुराने संतरी हटाकर नये नियुक्त किये थे। वे तुम्हें जानते नही थे, इसलिए उन्होंने तुम्हें रोका।"

—"मैं भी यही समझा था, इसीलिए फिर मैने वहाँ ठहरना उचित नहीं समझा।"

—"परन्तु फिर भी पकड़ लिए गये।"

—"अपनी लापरवाही से! मुझे यह विश्वास नहीं था कि हमारा पीछा किया जायगा, इसलिए हम धीरे-धीरे निश्चिन्त भाव से चले जा रहे थे। यदि तेजी से जाते तो फिर कोई हमारी धूल भी नहीं पा सकता था।"

—"संतरियों को घायल करके जाना और फिर यह सोचना कि कोई पीछा न करेगा!"

—"इतनी ही तो भूल हुई जिसके परिणाम-स्वरूप मैं यहाँ नजर-बन्द हूँ।"

—"पिताजी से क्या बातें हुई?"

—कुछ नहीं, कहते थे कि क्षमा माँगलो तो छोड़ दिये जा सकते हो। मैंने कहा, आपसे क्षमा नहीं माँगूँगा। हाँ, यदि बाग का स्वामी

चाहेगा तो उससे क्षमा माँग लूँगा।"

अन्तिम वाक्य महेन्द्र ने मुस्कराते हुए कहा।

प्रभावती के मुख पर घबराहट के चिह्न उत्पन्न हुए। उसने कहा—"यह तुमने बुरा किया, पिता जी समझ गये होंगे।"

—"मैंने कहा तो इस ढँग से नहीं था, परन्तु फिर भी यदि समझ गये होंगे तो समझा करें। आखिर बाग के पहरेदारों को भी उन्होंने कुछ समझ कर ही बदला होगा।"

—"उसका कारण केवल संदेह भी हो सकता है, परन्तु, तुम्हारी बातों से तो उन्हें निश्चय हो गया होगा।"

"मेरा तो ऐसा खयाल नहीं है।"

फिर दोनों मौन हो गये। कुछ क्षणों के पश्चात् प्रभावती ने पुनः कहा—"मेरी सलाह मानकर निकल जाओ तो अच्छा है।"

—"ऐसा तो कभी नहीं होगा प्रभा!"

सहसा महेन्द्र के मन में कुछ विचार आया अतएव वह बोला—"हाँ, एक शर्त पर ऐसा हो सकता हैं।"

—"किस शर्त पर?" प्रभा ने उत्सुक होकर पूछा।

—"यदि तुम भी मेरे साथ चलो।"

प्रभावती अवाक् होकर महेन्द्र का मुँह ताकने लगी।

महेन्द्र ने मुस्करा कर पूछा—"क्यों चुप क्यों हो गयीं?"

—"मैं भला ऐसा कर सकती हूँ! संसार क्या कहेगा!"

—"प्रेमी जन संसार की परवाह नहीं किया करते।"

—"हाँ जो पागल हो जाते हैं, परन्तु ईश्वर की दया से हम लोग तो अभी पागल नहीं हुए हैं।"

—"तब फिर तुम्हे भी कोई अधिकार नहीं जो मुझसे यह आशा रखो कि मैं तुम्हारी सहायता से निकल जाना पसन्द करूँगा। संसार क्या कहेगा!"

प्रभावती निरुत्तर होकर अपने सुनहले स्लीपर से कालीन को खोदने लगी।

कुछ क्षणों के पश्चात् उसने सिर उठाया और बोली—"अच्छी बात है—जैसी तुम्हारी इच्छा! मैं जाती हूँ, विलम्ब बहुत हो गया है—अधिक ठहरना ठीक नहीं।"

इतना कहकर महेन्द्र के उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही प्रभावती एकदम पर्दे के बाहर हो गयी।

(४)

राजकुमारी प्रभावती महेन्द्र के कमरे से निकल कर बाहर आयी। द्वार पर दो पहरेदार खड़े थे तथा दो दासियाँ राजकुमारी की प्रतीक्षा कर रही थीं। राजकुमारी ने हाथ से दासियों को चलने का संकेत किया। तीनों चलीं। थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर इन्होंने देखा कि सामने से महाराज चले आ रहे हैं। महाराज बिल्कुल अकेले थे। महाराज को देखकर तीनों घबरा गयी। छिपने का वहाँ कोई स्थान नहीं था। अब करें तो क्या करें। तीनों खड़ी हो गयीं। प्रभावती तो शान्तभाव से खड़ी थीं, परन्तु दासियाँ काँपने लगीं। महाराज आगे बढ़ते आ रहे थे। "अब क्या होगा राजकुमारी?" एक दासी ने पूछा।

राजकुमारी ने शान्त भाव से उत्तर दिया—"जो कुछ भाग्य में बदा होगा।"

इतने ही में महाराज बिल्कुल निकट आ गये। उन्होंने प्रभावती को देखकर साधारण रूप से पूछा—"इस समय कहाँ घूम रही है?

—"कहीं नहीं! ऐसे ही घूमने इधर चली आयी थी।"

—"इधर मत आया करो—जाओ आराम करो—रात अधिक हो गयी।"

राजकुमारी ने निश्चिन्तता की साँस लेकर कहा—"जाती हूँ।"

इतना कहकर वह दासियों सहित चल दी। परन्तु उसे इस प्रकार सस्ते छूट जाने पर यिस्मय हो रहा था। एक दासी ने कहा—"भगवान ने बचा दिया।"

प्रभावती बोलीं—"कौन जाने किसने बचाया।"

—"महाराज को सन्देह नहीं हुआ।" दासी बोली।

—"सन्देह नही हुआ तो आश्चर्य है।"

—"इसीलिए तो कहना पड़ता है कि भगवान् ने बचाया।"

—"शायद ऐसी ही बात हो!"

इधर महाराज सीधे महेन्द्र के कमरे में पहुँचे। महेन्द्र उन्हें देखते ही घबरा गया। उसे सन्देह हुआ कि महाराज को यह पता लग गया कि प्रभावती यहाँ आयी थी।

महाराज ने कहा—"क्यों राजकुमार, क्या हाल है?"

—"महाराज का अनुग्रह है।"

—"क्यों यहाँ ब्यर्थ में कष्ट सह रहे हो। अपने किये पर पश्चाताप करके क्षमा माँग लो और अपने घर जाओ। तुम जो यह आशा लगाये बैठे हो कि सूर्यपाल तुम्हें छुड़ा ले जायगा, तुम्हारी यह आशा फलीभूत नहीं हो सकती। बिना हमारी आज्ञा के यहाँ वायु भी नहीं आ सकती मनुष्य की तो बात ही क्या है।"

महेन्द्र को बड़ा आश्चर्य हुआ कि महाराज ने उसके मन की बात कैसे जान ली!

महाराज पुनः बोले—"तुम्हें ताज्जुब हो रहा होगा कि मैंने यह बात कैसे जान ली। केवल यही बात नहीं मैं तुम्हारे सम्बन्ध की बहुत सी बातें जानता हूँ।"

महेन्द्र ने कुछ उत्तर न दिया—चुपचाप सिर झुकाये खड़ा रहा।

महाराज बोले—"अच्छा हम तुम्हारा यह भ्रम भी दूर किये देते हैं कि सूर्यपाल तुम्हें छुड़ा ले जायगा।" इतना कहकर महाराज बाहर चले गये। महेन्द्र आश्चर्य-सागर में गोते खाने लगा।

महाराज उसके संबन्ध की बहुत सी बातें जानते हैं। वे कौन-कौन सी बातें हैं, कैसे जान पाये, इत्यादि प्रश्न उसके मस्तिष्क में चक्कर खा रहे थे।

सहसा किसी के आने की आहट पाकर महेन्द्र ने सिर उठाया तो सामने सूर्यपाल को खड़ा पाया। महेन्द्र घबरा कर बोला—सूर्यपाल, सूर्यपाल—तुम यहाँ कहाँ ?'

—"मुझे तो यहाँ आये दो दिन हो गये। जिस दिन आप यहाँ लाये गये थे, उसके दूसरे दिन मैं यहाँ आगया था।"

—"अपने महाराज का पत्र इन महाराज के पास लाया था।"

—"क्या पिताजी ने इन्हें पत्र लिखा था ?"

—"हाँ मैंने अन्य उपाय न देखकर महाराज से सब वृत्तान्त कह दिया था। उस पर उन्होंने इनको पत्र लिखा। वह पत्र लेकर मैं यहाँ आया था, तब से यहीं हूँ।"

—"तो तुम बन्दी नहीं हो।"

—"नहीं।"

—"तो अब तक मुझसे मिले क्यों नहीं ?"

—"आज्ञा नहीं मिली थी।"

"हूँ" कहकर महेन्द्र टहलने लगा। थोड़ी देर तक सोचने के पश्चात् बोला—"पिताजी ने क्या लिखा था ?"

—"यह मैं नहीं जानता।"

राजकुमार फिर मौन होकर टहलने लगा। सूर्यपाल बोला—

"जाता हूँ"

—"जाते कहाँ हो ? अब कहाँ जा सकते हो।"

—"इतनी ही देर की आज्ञा मिली थी।"

—"यह सब व्यर्थ है—अब तुम मेरे पास ही रहो।"

—"बिना महाराज की आज्ञा के ऐसा सम्भव नहीं।"

—"ऊँह, उनकी आज्ञा की परवाह कौन करता है।"

—"मैं वचन दे आया हुँ कि तुरन्त वापस आ जाऊँगा।"

—"यदि ऐसी बात है तो जाओ।"

सूर्यपाल प्रणाम करके बिदा हुआ।

दूसरे दिन महेन्द्र तथा सूर्यपाल और सूर्यपाल के साथ आये हुए चार सवार उसी रास्ते पर चले जा रहे थे जिस रास्ते पर महेन्द्र गिरफ्तार किया गया था। संध्या का समय था। महेन्द्र तथा सूर्यपाल आगे-आगे थे—सवार कुछ दूर पीछे थे। महेन्द्र ने सूर्यपाल से कहा—"महाराज मुझे इतनी सरलता से छोड़ देंगे, मुझे ऐसी आशा नहीं थी।"

सूर्यपाल बोला—"मुझे राजमहल के एक खास व्यक्ति से पता चला कि कल रात में राजकुमारी से आपकी जो बातचीत हुई थी बह सब महाराज ने सुनी थी।"

—"अरे यह कैसे ?" महेन्द्र ने चकित होकर पूछा।

—"उस कमरे से मिला हुआ एक कमरा है और कोई ऐसा छिद्र उस कमरे में है जिससे दूसरे कमरे का सब दृश्य दिखायी पड़ेता है और सब बातें सुनायी पड़ती हैं। महाराज उस समम उसी कमरे में थे।"

—"अच्छा। परन्तु वह वहाँ पहले ही से थे अथवा प्रभावती के मेरे पास आने की सूचना पाकर गये थे।"

—"यह मैं नही जानता। पर इतना जानता हुँ कि आपकी तथा

प्रभावती की बातें सुनकर ही आपके प्रति महाराज के बिचार बदल गये।"

—"बदल गये का क्या अर्थ ?"

—"अर्थात् अच्छे हो गये। उसका प्रमाण यह है कि उन्होंने आपको सम्मानपूर्वक बिदा किया।"

—"हाँ, जिस प्रकार उन्होंने मुझे छोड़ दिया उसकी आशा मुझे उनसे नहीं थी।"

—"केवल इतना ही नहीं हमारे महाराज के पत्र का उन्होंने जो उत्तर लिखा है उसमें आपके साथ राजकुमारी प्रभावती के विवाह का प्रस्ताव भी किया है।"

—"सच !"

—"बिल्कुल सच है।"

महेन्द्र कुछ क्षणों तक मौन रह कर बोला—"तुम आज बड़े धीरे चल रहे हो। जरा तेजी से चलो।" इतना कहकर राजकुमार ने अपने घोड़े को एड़ लगायी। सूर्यपाल ने मुस्कराकर उनका अनुकरण किया।

डोला

महाराज ने शराब का गिलास हाथ में उठाकर अपने सामने घुटनों के बल हाथ जोड़े खड़े हुए व्यक्ति पर दृष्टि डाली और व्यंग्यपूर्वक मुसकराते हुए कहा—"क्यों, अपनी कन्या को हमारे महल में भेजने से तेरी अप्रतिष्ठा होगी ?" इतना कहकर महाराज ने गिलास मुँह से लगा कर शराब पी और जब थोड़ी सी शराब गिलास में बच रही तो उस व्यक्ति के मुँह पर फेंक दी। शराब छप से उसके मुँह पर पड़ी जिससे उसका सारा मुख-मण्डल तर हो गया और शराब की बूँदें मूछों तथा दाढ़ी से टपक-टपक कर उसके वक्ष-स्थल पर गिरने लगीं। यह देखकर महाराज ने कहकहा लगाया और बोले—"देख, तेरी दाढ़ी-मूँछ के मोती निकले जा रहे हैं !" कुछ क्षणों के लिए उस व्यक्ति का चेहरा लाल हो गया और जबड़ों में कुछ थोड़ी सी हरकत हुई—मानों वह भीतर ही भीतर दाँत पीस रहा हो। परन्तु वह तुरन्त ही पूर्ववत् गम्भीर हो गया।

यह व्यक्ति अपनी वेश-भूषा से कोई प्रतिष्ठित आदमी मालूम होता था। इसके शरीर पर मूल्यवान् रेशमी कपड़े और शिर पर सच्चे काम का सुन्दर साफा था। उम्र में भी महाराज से बड़ा था। महाराज युवक थे और यह व्यक्ति अधेड़ था; क्योंकि इसके दाढी-मूँछ के बाल खिचड़ी हो चले थे। इस दीनावस्था में होते हुए भी उसके मुख पर काफी रोब था।

महाराज ने गिलास मेज पर रख दिया जिसे पीछे खड़ी हुई परिचारिका ने तुरन्त भर दिया। महाराज ने नशे में झूमते हुए कहा— "क्यों, बोलता नही।"

वह व्यक्ति बोला—"नही दीनानाथ, आपके महलों में अपनी कन्या को भेजने से मेरी तनिक भी अप्रतिष्ठा नहीं होगी परन्तु उसमे एक कारण यह हो गया है कि मेरी कन्या को सगाई हो चुकी है।"

"सगाई हो चुकी है ? सगाई हो चुकी है। क्यों हो चुकी है ?"

वह व्यक्ति मौन रहा।

"क्यों हो चुकी है, बोल !"

"विवाह-योग्य हो चुकी है !" उस व्यक्ति ने कहा।

"हूँ ! विवाह-योग्य हो चुकी है। तो तुझे बिना हमसे पूछे सगाई करने की क्या आवश्यकता थी ! क्यों, इसे हमसे पूछे बिना सगाई करने की क्या आवश्यकता थी ?"

अन्तिम वाक्य महाराज ने शराब का कन्टर हाथ में लिए हुए परिचारिका से कहा।

परिचारिका ने भयपूर्ण दृष्टि से महाराज की ओर देखते हुए कहा —"कोई आवश्यकता नहीं थी, अन्नदाता !"

महाराज बच्चों की तरह ताली बजाकर बोले—"हूँ ! यह बात है ! देखा, यह क्या कहती है ! यह तुझ से अधिक समझदार है ! यह एक

साधारण नौकर है, गुलाम है और तू जागीरदार है—फिर भी यह तुझ से ज्यादा समझ रखती है । क्यों रखती है या नहीं ? बोल, जल्दी बोल !"

"हाँ अन्नदाता, आप का कथन सत्य है ।"

जागीरदार ने घृणा के भाव को दबाते हुए कहा ।

"बेवकूफ ! गधा ! तुझ में एक गुलाम-जितनी भी समझ नहीं ।"

इतना कह कर महाराज ने पुनः शराब का गिलास उठाया और एक घूँट पीकर रख दिया । इसके पश्चात् वे जागीरदार की ओर देख-पागल की तरह मुसकराते हुए बोले—',सगाई हो चुकी है ! हा हा हा हा ! गधा कहीं का ! सगाई हो चुकी है तो क्या हुआ, ब्याह तो नहीं हुआ है । क्यों ब्याह तो नहीं हुआ है ? जब ब्याह नहीं हुआ है तो फिर क्या है ?"

इस बार जागीरदार पुनः बोला—"परन्तु सगाई तोड़ने से बड़ी अप्रतिष्ठा होगी दीनबन्धु !

"अप्रतिष्ठा ! कैसी अप्रतिष्ठा ? जब वह हमारे महल में रहेगी तब अप्रतिष्ठा कैसी ? अप्रतिष्ठा होगी । बेवकूफ ! अहमक ! हा हा हा हा ! अप्रतिष्ठा होगी !"

महाराज ने पुनः शराब के दो तीन घूँट पिये ।

बेचारा जागीरदार महाराज का मुँह ताकता रहा । उनकी बात का प्रतिवाद करने का उसमें साहस नहीं था ।

महाराज पुनः बोले—"हम तेरी कन्या को अपने महल में प्रविष्ट करके तेरा मान बढ़ाते हैं अन्यथा हमारे महल में सुन्दरियों की कमी नहीं है । यह एक साधारण सेविका है पर कितनी सुन्दर है देख ! क्या तेरी कन्या इससे अधिक सुन्दर है ?"

इतना कह कर महाराज ने परिचारिका की ओर उँगली उठायी। परिचारिका तरुणी तथा साधारण सुन्दरी थी। जागीरदार ने परिचारिका पर एक दृष्टि डाल कर सिर झुका लिया।

महाराज जागीरदार को देख-देखकर अपने ही आप हँसते रहे। तत्पश्चात एकदम गम्भीर होकर बोले—"तुझ को एक सप्ताह की मोहलत दी जाती है। एक सप्ताह के अन्दर अपनी कन्या को हमारे महल में भेज देना—समझा? एक सप्ताह के अन्दर भेजना पड़ेगा। एक सप्ताह के अन्दर भेजना पड़ेगा। एक सप्ताह कितने दिनों का होता है - यह जानता है? सात दिनों का। सात दिनों के अन्दर भेज देना, अन्यथा जानता है क्या होगा? तेरी कन्या जबरदस्ती महल में बुला ली जायगी और तेरी जागीर जब्त करके तुझे देश-निकाला दे दिया जायगा। यह हमारा आखिरी हुक्म है, जाओ!"

जागीरदार उठ कर सीधा खड़ा हो गया। उसने महाराज को प्रणाम किया और उल्टे पैरों चलकर कमरे के बाहर हो गया।

(२)

रात का समय था। जागीरदार बलन्तसिंह अपने मकान में अपनी पत्नी तथा छोटे भाई सहित चिन्तितावस्था में बैठा था। अकस्मात बलवन्तसिंह का छोटा भाई जसवन्तसिंह बोल उठा—"कुछ भी हो परंतु चन्दन को उस पिशाच के हाथों में सौंपना मैं किसी भी दशा में पसन्द नहीं कर सकता।"

बलवन्तसिंह बोला—"पसन्द करने का तो प्रश्न ही नहीं है। क्या तुम समझते हो कि मैं इसे पसन्द कर सकता हूँ—कदापि नहीं! परन्तु इसका परिणाम भी तो सोचो। जागीर जब्त होगी और देश-निकाला दिया जायगा।"

जागीरदार की पत्नी बोल उठी—"यह तो बड़ा अंधेर है, या तो अपनी कन्या दो नहीं तो ये सब सहो।"

कुछ देर तक तीनों व्यक्ति मौन बैठे रहे। इसके पश्चात् बलवन्तसिंह बोला—"आखिर तय क्या होना चाहिए?"

जसवंतसिंह बोला—"मेरी समझ में तो यह आता है कि जागीर-वागीर का मोह तो आप छोड़ दीजिये। अपने पास जो सम्पत्ति है उसे लेकर चुपचाप यहाँ से निकल चलिए।"

—"जागीर का मोह मुझे तनिक भी नहीं है। मेरे पास इतनी संपत्ति है कि कहीं भी बैठ कर कर शेष जीवन सुख से बिताया जा सकता है; परन्तु यहाँ से निकलें कैसे? महाराज के गुप्तचर अवश्य लगे होंगे और वे क्षण-क्षण का समाचार उनके पास पहुँचाते होंगे। ऐसी दशा में यहाँ से निकलना असम्भव है।"

—"यह कठिनाई तो अवश्य है।" बलवन्तसिंह ने कहा।

—"समय भी थोड़ा है, आज से केवल एक सप्ताह! यदि समय अधिक होता तब भी कुछ हो सकता था। धीरे-धीरे सब प्रबन्ध हो जाता। परन्तु इतना समय नहीं है।"

—"तब तो फिर केवल एक उपाय है।" जसवंतसिंह ने आवेश के साथ कहा।

—"वह क्या?" बलवन्तसिंह ने पूछा।

—"लड़की को जहर दे दिया जाय और यह मशहूर कर दिया जाय कि बीमार होकर मर गयी।"

जागीरदार की पत्नी बोल उठी—"ना! ना! यह काम नहीं हो सकता। इससे तो अच्छा यही है कि उसे महाराज को देदो—वहाँ सुख से तो रहेगी। मेरे एक लड़की है, मैं उसे इस प्रकार नहीं मरने दूँगी।"

—"उस शराबी और व्यभिचारी को तो मैं अपनी लड़की कदापि नहीं दूंगा, चाहे मेरा सर्वस्व चला जाय।" बलवन्तसिंह ने दृढ़तापूर्वक कहा।

फिर कुछ क्षणों के लिए सन्नाटा छा गया।

जागीरदार की पत्नी मौन-भंग करके बोली—"राजा को ऐसा नहीं चाहिए कि किसी की लड़की जबरदस्ती छीनें।"

—"इन खुशामदी जागीरदारों और मंसबदारों ने अपनी लड़कियाँ दे दे कर महाराज का स्वभाव बिगाड़ दिया। अब हम लोगों की लड़कियाँ छीनना वे अपना अधिकार समझने लगे हैं।"

इसी समय कमरे का द्वार खुला और एक बाइस-तेईस वर्ष का नवयुवक कमरे में प्रविष्ट हुआ। उसको देखते ही बलवंतसिंह ने उत्सुकतापूर्वक पूछा—"कहो बेटा, क्या उत्तर लाये ?"

युवक ने अपने सिर का रेशमी साफा उतारते हुए कहा—"उन्होंने तो इन्कार कर दिया।"

—"इन्कार कर दिया।" बलवन्तसिंह ने विस्मित होकर पूछा।

—"हाँ, बोले—यदि और कोई बात होती तो मैं महाराज पर जोर डालता, पर इस मामले में मैं कुछ नहीं कर सकता।"

—"चलो यह अन्तिम अवलम्ब भी जाता रहा। जब प्रधान मंत्री कुछ नहीं कर सकता तो और किससे आशा हो सकती है।" बलवन्तसिंह ने हतोत्साहित होकर कहा।

युवक अपनी माता की बगल में बैठता हुआ बोला—"मैंने फिर यह भी पूछा कि आप यह नहीं कर सकते तो कोई सलाह ही बताइये कि हम लोग क्या करें। इस पर वे बोले कि—मैं तो यही सलाह दूंगा कि महाराज की बात मान लो।"

"बदमाश ! हरामजादा ! महाराज की बात मान लो ! जैसा वह नीच है वैसी ही सलाह भी दी । वह महाराज से कह क्या सकता है । उसका मुँह ही नहीं है जो कुछ कह सके । वह स्वयं भी तो शराबी और व्यभिचारी है । कह तो वह सकता है जो स्वयं बेलगाव हो । जो स्वयं चोर है वह दूसरे से चोरी न करने को कैसे कह सकता है ।"

—"यही बात है ।" जसवंतसिंह बोला ।

—"क्या बतावें कोई उपाय नहीं सूझता ।" बलवंतसिंह ने अधीर होकर कहा ।

जागीरदार की पत्नी बोली—"न हो चंदन की सुसरालवालों को खबर दो शायद वेही कोई उपाय निकालें ।"

—"वे कुछ नहीं कर सकते-उनका यहाँ कोई वश नहीं है ।"

थोड़ी देर तक फिर मौन रहा तत्पश्चात् एक दीर्घ निश्वास छोड़ कर बलवंतसिंह ने कहा—"खैर, तब तक एक काम तो होना ही चाहिए ।"

—"वह क्या ?" जसवंतसिंह ने उत्सुकतापूर्वक पूछा ।

—"तुम कुछ असबाब लेकर यहाँ से निकल जाओ ।"

—"कहाँ जाऊँ ?"

बलवंतसिंह ने एक बड़े नगर का नाम बताकर कहा—वहाँ जाओ, वहाँ मेरे एक मित्र हैं, उनकी सहायता से कोई मकान किराये पर ले लेना । तुम्हारे पीछे ही मैं रघुराज को भेजूँगा । इसके पश्चात् अवसर पाकर हम लोग भी पहुँच जायँगे ।"

—"परंतु यदि गुप्तचरों को खबर लग गयी ?"

—"जब तक मैं, चंदन तथा उसकी माता के साथ यहाँ रहूँगा तब तक उन्हें केवल तुम्हारे तथा रघुराज के बाहर जाने से कोई संदेह नहीं हो सकता ।"

—"खैर, आप अच्छी तरह सोच समझ लीजिए। ऐसा न हो कि हम दोनों तो वहाँ पहुँच जायँ और पीछे आप लोगों पर कोई मुसीबत आवे।"

—"नहीं, मैं कोई न कोई उपाय ऐसा निकाल लूँगा, जिससे यहाँ से निकल सकूँ। असबाब लेकर जाने में मुश्किल है। जब असबाब तुम दोनों के साथ चला जायगा तब हमें यहाँ से निकलने में अधिक कठिनाई नहीं पड़ेगी।"

—"बहुत अच्छी बात है। तो मैं कब जाऊँ।"

—"कल दिन में सब ठीक-ठाक कर के रात में चले जाना।"

(३)

जागीरदार बलवंतसिंह ने जसवंतसिंह तथा अपने पुत्र रघुराजसिंह द्वारा कुछ आवश्यक सामान भेजवा दिया। इस कार्य में चार दिवस व्यतीत हो गये। अब केवल तीन दिन शेष रह गये थे। आज के तीसरे दिन उन्हें चंदन का डोला महल में भेज देना चाहिए अन्यथा महाराज की आज्ञा न मानने का परिणाम सहने के लिए तैयार रहना चाहिए।

रात का समय था जागीरदार अपनी पत्नी सहिस बैठा था। उसके मुख पर चिन्ता के गहरे भाव थे। पत्नी एक दीर्घ निश्वास छोड़कर बोली—"आज का दिन भी बीत गया समझो। कल का दिन बीच है, परसों जो भगवान की मर्जी है वह हो जायगा!"

जागीरदार बोला—"बड़ी कठिन समस्या है। जान पड़ता है जसवंतसिंह और रघुराजसिंह के जाने की बात महाराज को ज्ञात हो गयी।"

—"यह तुमने कैसे जाना?"

—"गुप्तचरों का जोर बढ़ गया है। अब तो रात में भी द्वार के आस-पास दो एक डटे ही रहते हैं।"

—"तब तो निकलना कठिन है।"

—"बहुत कठिन है। परमात्मा ही सहायता करें तो यहाँ से निकलना हो सकता है।"

-"और जो न निकल सके तो क्या होगा ?"

—"उस समय मैंने जो सोच रखा है वही होगा।"

—"क्या सोच रखा है ?"

—"पहले चन्दन को मार कर फिर हम तुम मर जायेंगे।"

पति की बात सुनकर चंदन की माता काँप गयी। कुछ क्षणों तक सोचकर वह बोली—"हाँ, फिर यही करना होगा। सबसे अधिक चिंता रघुराज की थी सो वह तो निकल ही गया। परमात्मा उसे चिरंजीव रखे—वह जीता रहेगा तो वंश का नाम चलता रहेगा।"

इतना कहते-कहते चंदन की माता के नेत्रों से अश्रुपात होने लगा।

बलवन्तसिंह के भी नेत्र अश्रुपूर्ण होगये। उसने गदगद कंठ से कहा "यही सोचकर तो मैंने उसे और जसवन्त को यहाँ से निकाल दिया है। हमें अपनी परवाह नहीं है—हम पर चाहे जो बीते।"

—"न जाने किस जन्म के पाप उदय हो गये!"

—"मैंने तो अपनी समझ में कभी कोई पाप किया नहीं। जागीरदार और मन्सबदार राजाश्रय पाकर प्रजा पर अत्याचार करते हैं। अभी एक महीना हुआ एक जागीरदार ने दो किसानों को इतना पिटवाया कि वे दोनों मर गये। महाराज को खबर भी हुई परंतु उन्होंने कुछ ध्यान नहीं दिया। वह जगीरदार महाराज के लिए अपनी बहन-बेटी तक हाजिर कर देता है, इसलिए उसके विरुद्ध शिकायत पर कभी भी महाराज ध्यान नहीं देते। मैंने तो किसी को भी कभी बेजा तौर पर नहीं सताया फिर भी महाराज मेरा सर्वनाश करने पर तुले हैं और यह केवल इसलिए कि मैं अपनी कन्या उन्हें नहीं देना

चाहता । बस, इसके अतिरिक्त और मेरा क्या अपराध है ? खैर जो परमात्मा की इच्छा ! इसी समय एक अष्टादशवर्षीया युवती जो बहुत रूपवती थी, उसे देखकर जागीरदार ने पूछा—"क्यों चंदन क्या है ?"

—"पिता जी चपला बाँदी आप से कुछ बात करना चाहती है ।"

जागीरदार ने पूछा—"क्या बात करना चाहती है ?"

—"मुझे तो कुछ बताती नहीं ।"

चन्दन की माता बोल उठी—"अच्छा उसे भेज दे ।" चन्दन चली गयी ।"

जागीरदार बोला—"चपला को इस समय कौन सी बात करने की आवश्यकता पड़ी ।"

—"होगी कोई बात ।"

—"सम्भव है उसे कोई समाचार मिला हो ।"

—"जो कुछ होगा मालूम हो जायगा ।"

इसी समय एक पच्चीसवर्षीया स्त्री कमरे में प्रविष्ट हुई और जागीरदार के सामने हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी ।

जागीरदार ने भृकुटी चढ़ाकर पूछा—"क्या कहना चाहती है ?"

"अन्नदाता मेरा अपराध क्षमा करें । मुझे आपके कष्ट का हाल मालूम हुआ है ।"

—"क्या मालूम हुआ है ?"

—"यही कि महाराज कुमारी जी का डोला माँगते हैं ।"

—"हाँ हाँ तो फिर तुझसे क्या मतलब ?"

बलवन्तसिंह ने उसे सन्देह की दृष्टि से देखते हुए पूछा ।

—"अन्नदाता, अपराध क्षमा हो, मेरी यह अरज है कि आप कुमारी जी का डोला कभी न दें ।"

—"न दें तो करें क्या ? महाराज जबरदस्ती चन्दन का डोला

मँगवा लेंगे और साथ में हमारी जागीर जब्त कर लेंगे, घर लुटवा लेंगे और हमें देश-निकाला दे देंगे।"

—"यह सब कुछ नहीं होगा अन्नदाता।"

—"कैसे नहीं होगा?"

—"जो अन्नदाता मेरी बात मानें तो यह सबकुछ नहीं होगा। कुमारीजी का डोला भी नहीं देना पड़ेगा और आप सब भी बच जायँगे।"

जागीरदार प्रसन्न मुख होकर बोला—"यदि ऐसा हो तो फिर क्या कहना है।"

—"ऐसा ही होगा अन्नदाता। मैंने सब बात सोच ली है।"

—"जो तू ऐसा करदे चपला तो तू हमारे नमक से अदा हो जायगी। हम जन्म भर तेरा एहसान मानेंग्रे।"

—"तो सुनिये अन्नदाता। मैं जैसा कहूँ, वैसा कीजिए, सब काम ठीक हो जायगा।"

(४)

आज जागीरदार की मोहलत का अन्तिम दिन था। प्रातःकाल होते ही महाराज ने नित्यक्रिया से निवृत्त होकर आज्ञा निकाली कि जागीरदार बलवन्तसिंह तुरन्त हाजिर किया जावे।

एक घंटे के भीतर जागीरदार बलवन्तसिंह महाराज के सम्मुख उपस्थित किया गया। महाराज ने उससे कहा—"जागीरदार बलवन्त-सिंह, आज तुम्हारी मोहलत का आखिरी दिन है; यह तुम्हें याद है न?"

—"याद है श्रीमान्!"

—"तो तुम क्या करना चाहते हो? मुझे यह पता लगा था कि तुमने अपने लड़के और भाई को कहीं बाहर भेजा है।"

"कहां भेजा है ?"

—"लड़की की सुसराल भेजा है, अन्नदाता !"

—"क्यों ?"

—"उनसे यह कहला भेजा है कि लड़की का रिश्ता नहीं होगा, सगाई तोड़ दी गयी।"

महाराज के मुख पर कुछ क्षणों के लिए प्रसन्नता के चिह्न प्रस्फुटित हुए परन्तु वह तुरन्त ही पूर्ववत् गम्भीर होकर बोले—"हूँ, तो तुम्हारा क्या इरादा है ?"

—"श्रीमान की आज्ञा-पालन करूँगा। श्रीमान् हमारे अन्नदाता हैं, हमारे रक्षक हैं, राजा हैं, माता-पिता हैं—श्रीमान् की आज्ञा यह दास कैसे टाल सकता है।"

—"शाबाश बलबन्तसिंह ! तुम पूरे राजभक्त हो। हम तुम्हारा पद और जागीर बढ़ा देंगे।"

महाराज ने मुसकरा कर कहा।

—"महाराज की इस सेवक पर कृपा-दृष्टि चाहिए। जागीर और पद की इस दास को इच्छा नहीं है। बड़े महाराज (वर्तमान महाराज के स्वर्गीय पिता) का दिया हुआ दास के पास सबकुछ है।"

—"बड़े महाराज ने तो दिया ही है पर हम भी तुम्हारा सन्मान करेंगे।"

—"जैसी महाराज की इच्छा, जिसमें महाराज की प्रसन्नता हो उसी में इस दास को भी प्रसन्नता है।"

—"हाँ, तो आज सातवाँ दिन है।"

—"हाँ, अन्नदाता आज सातवाँ दिन है। आज रात को अपनी कन्या का डोला महल में भेजवा दूँगा।"

—"रात में क्यों ?"

—"सेवक के परिवार में ऐसा ही निश्चय हुआ है।"

महाराज कुछ क्षणों तक सोचकर बोले—"अच्छी बात है रात ह को सही।"

—"तो सेवक को आज्ञा हो, जिससे सब प्रबन्ध करके सेवक ठीक समय पर डोला भेजवाने में समर्थ हो।"

—"अच्छा जाओ!"

जागीरदार चला गया। जागीरदार के चले जाने पर महाराज ने पास खड़े हुए एक सरदार से कहा—"गुप्तचरों को आज्ञा देदो कि खूब कड़ी जाँच रखें। जब तक डोला महल में न आ जावे तय तक बलबंत-सिंह के द्वार पर से न हटें। "जो आज्ञा" कहकर सरदार चला गया।

रात के नौ बजने का समय था। महाराज बड़ी बेचैनी के साथ बलवन्तसिंह की कन्या के डोले की प्रतीक्षा कर रहे थे। सहसा एक सरदार के आगमन की सूचना पाकर उन्होंने उसे बुलाया और पूछा—"क्या समाचार है?"

—"डोला बलवन्तसिंह के घर से चल दिया है श्रीमान्!

—"अच्छा, डोला आ जावे तो उसे महल के बाम भाग वाली कोठो में उतरवाया जावे।"

—"जो आज्ञा।" कह कर सरदार बिदा हुआ।

सरदार के चले जाने पर महाराज ने मुस्कराकर मेज पर से शराब का गिलास उठाया और दो घूँट पीकर शराब पिलानेवाली परिचारिका से बोले—"हमारी आज्ञा टालने का साहस किसमें हो सकता है?"

—"किसी में नहीं अन्नदाता!" परिचारिका ने मुसकराकर कहा।

—"आज हम खूब पियेंगे। जितना तेरा जी चाहे पिलादे।"

परिचारिका ने पुनः गिलास भर दिया।

एक घंटे पश्चात् महाराज को सूचना मिली कि डोला महल में निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच गया।

महाराज तुरंत उठ खड़े हुए और लड़खड़ाते हुए चले—उन्हें सम्हालने के लिए चार आदमी साथ थे।

उक्त स्थान पर पहुँच कर महाराज ने देखा कि जागीरदार की कन्या घूंघट निकाले बैठी है। उसके पीछे महल की दो दासियाँ खड़ी हैं।

महाराज चंदनकुमारी के सन्मुख कुछ दूर पर खड़े हो गये और एक दासी से कहा—"इसका घूँघट उल्टो।"

एक दासी ने आगे बढ़ कर धीरे से घूँघट उल्ट दिया। परन्तु यह क्या! चंदनकुमारी के स्थान पर जागीरदार की चपला दासी! महाराज ने आँखें फाड़ कर उसे ध्यानपूर्वक देखा और कहा—"यही चंदनकुमारी है! नहीं नहीं! यह चंदनकुमारी कभी नही हो सकती। तू कौन है री?"

चपला ने मुसकराकर कहा-"मैं हूँ जागीरदार की बाँदी चपला।"

"हैं, बाँदी! धोका! दगा!"

महाराज का चीत्कार सुनकर चार अस्त्र-शस्त्रधारी जवान अन्दर घुस आये।

महाराज दाँत पीसते हुए बोले—"इस हरामजादी को ले जाकर कत्ल कर दो और जागीरदार को गिरफ्तार करके अभी हमारे सामने हाजिर करो।"

चपला खड़ी हो गयी और बोली—"महाराज मैं तो मरने को तैयार होकर ही आयी हूँ, यह देखिये..."

इतना कहकर चपला ने एक कटार निकाल कर अपनी छाती में भोंक ली, तत्पश्चात उसने कहा—'मेरे जीते जी मेरे स्वामी की लड़की

आप नहीं पा सकते थे। अब मैं अपने मालिक के नमक से अदा हो गयी।"

इतना कहकर चपला गिर पड़ी।

महाराज कड़क कर बोले—"इस हरामजादी को छोड़ो-बलवन्त-सिंह को गिरफ्तार करके हाजिर करो।"

चपला ने सिर उठाकर कहा—"वह भी आपको नहीं मिलेंगे, अब तक तो वे न जाने कहां पहुँच गये होंगे। मेरा डोला—इधर—आह—भेजने के पश्चात् हो—वे वहाँ से रवाना हो गये—महाराज—मेरा अपराध—क्षमा करें—मैंने—अपने मालिक—आह!"

गरीब-हृदय

भाद्रपद् की दोपहर का समय था। फूलपुर ग्राम के एक खेत में कुछ स्त्री पुरुष काम कर रहे थे। इनमें से अधिकांश चमार जाति के थे। खेत के निकट ही कुछ दूर पर एक महुए के वृक्ष की छाया में एक अधेड़ व्यक्ति बैठा तमाखू मल रहा था। अकस्मात खेत में से एक वृद्धा चमारिन निकल कर बस्ती की ओर चली। उसे जाते देख कर तमाखू मलनेवाले ने पुकारा—"कहाँ जाती हो?"

वृद्धा कुछ ठिठुक कर बोली-"जरा पानी पी आउँ, अभी आती हूँ।"

—"आज तुम्हें बड़ी प्यास लग रही है—क्या बात है?"

वृद्धा बोली—"क्या कहूँ भय्या, तीन चार दिन से जी अच्छा नहीं है, रात को बुखार हो आता है—जाड़ा बहुत लगता है। अन्न अच्छा नहीं लगता। पानी पीते-पीते दिन बीतता है।"

—"ऐसी बात है तो एक डोल भर के खेत की मेड़ पर रख लो—बारबार गाँव जाती हो, काम का हरजा होता है।" उस व्यक्ति

ने तमाखू फटफटाते हुए कहा।

—"कोई लाके रखदे तो हो सकता है, मुझ में तो इतना बूता नहीं है जो कुँए से डोल भर के यहाँ तक लाऊँ।" इतना कहकर वृद्धा चलदी।

—"अबकी जितना पानी पीना हो पी आना—या डोल-कलसा भरवा कर ले आना। अब मैं नहीं जाने दूँगा।" वृद्धा चुपचाप चली गयी।

वह व्यक्ति तमाखू फाँक कर अपने आप ही बोला—"जब जी अच्छा नहीं है तब मजूरी करने काहे को आयी?"

इसी समय एक युवक उधर से निकला। उसने उस व्यक्ति की बात सुनकर पूछा—"किसका जी अच्छा नहीं है ठाकुर?"

ठाकुर युवक की ओर देखकर किञ्चित् मुस्कराते हुए बोला—"अरे भइया, वही डायन है, मँहगुवा की अम्मा। बुखार आता है फिर भी मजूरी करने दौड़ी आयी। सबेरे से दस दफे पानी पीने जा चुकी। हमारे काम का हरजा होता है, मजूरी मुफ्त की थोड़ा ही देनी है। हम चाहते हैं आज शाम तक खेत निका जाय।"

—"कितने आदमी निका रहे हैं?"

—"आठ आदमी हैं!"

—"तब तो शाम तक हो जाना चाहिए।"

—"होगा कैसे नही, न होगा तो मजूरी भी नहीं दूँगा।"

—"इस बार, तुम्हारी खेती अच्छी है ठाकुर!"

—"हाँ, अभी तो अच्छी हुई है—घर में कुछ आवे तब जानें। रब्बी क्या कुछ कम थी पर पानी ने चौपट करदी।"

—"हाँ, यह तो ठीक बात है। कट-मड़ कर खैरसल्ला से घर में आजावे तो सब अच्छा है, नहीं तो कुछ भी नहीं।

—"खड़े काहे को बैठ जाओ, किसी काम से जारहे हो क्या ?"

—"नहीं काम तो कोई नहीं, ऐसे ही घूम फिर रहा हूँ।"

—"तो बैठो, हवा खाओ।"

युवक ठाकुर के सामने बैठ गया।

"तुम्हारे खेत तो सब निका गये?"

—"हां, हमारा तो सब काम खतम है, इसी से तो मस्त घम रहे हैं।"

—"हमारा काम भी दो-तीन दिन में हो जायगा। आज यह खेत हो जायगा। एक खेत और रह गया सो परसों तक वह भी हो जायगा।" अधेड़ व्यक्ति ने कहा।

इसी समय वृद्धा आती हुई दिखायी पड़ी—वह बहुत धीरे-धीरे आरही थी। अधेड़ व्यक्ति बोला—"देखो ससुरी कैसी जनवासी चाल चल रही है। जरा जल्दी पैर उठाओ चौधराइन—कुछ बताशे नहीं बिछे हैं जो फूट जायँगे।" पिछला वाक्य ठाकुर ने चिल्ला कर चौधराइन से कहा।

—"बीमार तो मालूम होती है।"

—"होगी ससुरी बीमार—हम तो पूरा काम लैगे तब मजूरी देंगे। बीमार थी तो मजूरी करने क्यों आयी ?"

—"मजूरी न करे तो खाय क्या? घर की अकेली ठहरी, दूसरा कोई कमाने-धमाने वाला नहीं है।"

–– भइया की बातें ! इसके पास रकम है, पर कंजूस इतनी है कि बैठ कर नहीं खा सकती।

—"रकम तो क्या होगी।"

—"तुम मानते नहीं। गाँव में चाहे जिस से पूछ लो।"

—"रकम है तो इतनी तकलीफ क्यों सहती है?"

—"मैने बताया न कि कंजूस परले सिरे की है। प्राण दे देगी परन्तु बैठ कर नही खायगी।"

—"होगी रकम, अपने को क्या करना है।"

इतनी देर में वृद्धा इन दोनों के निकट आगयी। युवक ने पूछा—"काकी, कुछ तबीयत खराब है क्या ?"

वृद्धा बोली—"हाँ, बेटा, चार दिन से रोज जूड़ी आ जाती है। अन्न चलता नहीं, पानी पी-पी कर दिन काटती हूँ।"

—"जब तबियत अच्छी नहीं है तो काम करने नाहक आयीं।"

—"काम न करूँ तो, बेटा खाऊँ क्या ? गाँव में कोई रोटी का टुकड़ा देने वाला तक नहीं है। क्या करूँ, भगवान् भी सुध नहीं लेते। चोला छूट जाय तो जंजाल से छुट्टी मिले।"

अधेड़ व्यक्ति बोला—"जंजाल काहे का ? अकेला दम है, न बेटा न बेटी। आगे नाथ न पीछे पगहा—फिर भी जंजाल !"

—"बुढ़ापे में जब हाथ-पैर नहीं चलते और कोई रोटी देने वाला नहीं होता तो अपना चोला ही जंजाल हो जाता है, भइया !"

इतना कह कर वृद्धा खेत के भीतर घुस गयी।

युवक बोला—"तुम तो कहते हो इसके पास रकम है। जिसके पास रकम होगी वह इतनी तकलीफ कभी न उठायेगा।"

—"अब तुम न मानो तो इसका क्या इलाज है ?"

युवक थोड़ी देर तक बैठा रहा तत्पश्चात् उठ कर चल दिया।

(२)

सूर्यास्त का समय था। वही युवक शौच से निवृत्त होने के लिए गाँव के बाहर जा रहा था। सहसा उसके कानों में किसी के चीत्कार कर रोने का शब्द आया। युवक ठिठुक गया और कान लगाकर सुनने लगा। कुछ क्षणों तक सुनने पर अपने ही आप बोला—"यह तो

चौधराइन काकी की आवाज है, जान पड़ता है ठाकुर से कुछ झगड़ा हुआ।" यह कहता हुआ युवक उसी ओर चला।

खेत के सामने पहुँच कर उसने देखा कि वृद्धा चौधराइन भूमि पर बैठी चीत्कार कर रो रही है। सामने वही अधेड़ ठाकुर और चार-पाँच अन्य मज़दूर खड़े हैं। पास पहुँचा कर युवक ने पूछा—"क्या हुआ काकी, काहे रोती हो?"

वृद्धा युवक को देखकर और उसका सहानुभूतिपूर्ण प्रश्न सुन कर और जोर से रोने लगी।

युवक ने ठाकुर से पूछा—"क्या मामला है, ठाकुर?"

ठाकुर कर्कश स्वर में बोला—"इसके कारण मेरा खेत आज रह गया। इसने दिनभर यों ही काटा, जरा भी काम नहीं किया। दोपहर को तुम्हारे सामने यह पानी पीकर कितनी देर में आयी थी? तुम तो उस समय मेरे पास ही बैठे थे।"

वृद्धा रोना बन्द करके आर्त्त स्वर में बोली—"बेटा मनोहर! मैंने दिन भर जी तोड़ कर काम किया। ये सब लोग देखने वाले हैं, इनसे पूछ लो। हाँ, चार पाँच बेर पानी पीने जरूर गयी थी। यहाँ पानी नहीं मिला तो गाँव जाना पड़ा। यहाँ पानी का इन्तजाम होता तो काहे को जाती। सो अब ठाकुर कहते हैं कि मजूरी नहीं मिलेगी। खेत बाकी रह गया तो उसका दोष मेरे ऊपर धरते हैं। खेत नहीं हुआ तो मैं क्या करूँ? कुछ मैं अकेली तो थी नहीं और सब लोग भी तो थे। मैं तो यहाँ तक कहती हूँ कि पानी पीने में सब मिला कर घन्टा-दो घंटा लगा होगा—सो दो घन्टे मैं और काम कर दूँगी, पर खेत फिर भी नहीं होगा। मजूरी की मजूरी नहीं देते और ऊपर से तीन चार थप्पड़ मारे। मैं अनाथ हूँ, इससे चाहे जो कोई मार पीट ले—जो आज मेरे कोई होता तो ठाकुर की मजाल थी जो हाथ लगा लेते।"

इतना कह कर वृद्धा ने पुनः रोना आरम्भ किया। ठाकुर बोले—"तेरा कोई होता तो क्या कर लेता ? ससुरी फैल मचाती है।"

इतना कहकर ठाकुर ने एक थप्पड़ मारा और पुनः दूसरा मारने को हाथ उठाया ही था कि मनोहर ने लपक कर ठाकुर का हाथ पकड़ लिया और कहा—"बस ठाकुर, बहुत हुआ, बूढ़ी और बीमार औरत को मारते हो—बड़े शरम की बात है। और यह बेचारी ठीक तो कहती है—आज इसके कोई होता तो तुम इसे इस प्रकार पीट सकते थे ?"

ठाकुर ने बिगड़ कर कहा—"तुम क्यों बीच में टिपर-टिपर करते हो ? तुमसे क्या मतलब ?"

—"मतलब क्यों नहीं है। यह अनाथ है तो क्या मार डालोगे ? ऐसा अन्धेर ! आखिर कुछ तो काम किया है ? दिन भर में आधे दिन तो किया है। आधे ही दिन की मजदूरी दो ? एक तो मजूरी न देओ और ऊपर से मारते हो।"

— इसकी वजह से हमारा खेत रह गया नहीं तो आज हो जाता।

—"ऐसा नहीं हो सकता कि इसकी बजह से खेत रह जाय। क्यों भई, क्या कहते हो, इसकी बजह से खेत रह गया ?"

एक मजदूर बोला—"नहीं सो बात तो नहीं है। खेत तो आज हो ही नहीं सकता था। यह कितना काम करती ? पूरा काम करती तो बिसुआ दो बिसुआ और हो जाता, पर खेत तो अभी चार पाँच बिसुआ रह गया। इतना काम यह अकेले नहीं कर सकती थी।"

मनोहर ने कहा—"तो फिर ठाकुर को समझाते क्यों नहीं—खड़े-खड़े इस बेचारी बुढ़िया को पिटवा रहे हो।"

—"हमने तो ठाकुर से बहुतेरा कहा भइया, पर ठाकुर नहीं मानते यही कहते हैं कि इसकी वजह से खेत रह गया। अब बताओ हम क्या करें ?"

मनोहर ने कहा—"वाह, ठाकुर साहब ! वाह ! खूब न्याय किया। यह दो चार दफे पानी पीने गयी तो तुम्हें मजूरी दाब लेने का बहाना मिल गया। उचित तो यह था कि यदि इसने कुछ कम काम भी किया था तो पूरी मजूरी दे देते। यह गरीब है, अनाथ है। इसको यदि दो चार पैसे फालतू भी दे दोगे तो कुछ गरीब नहीं हो जाओगे।"

ठाकुर बोले—"मेरे पास इतना फालतू पैसा नहीं है जो हरामखोरों को खिलाऊँ। तुम बड़े दयावान हो तो तुम्हीं देदो।"

—"मुझे देना होगा तो तुमसे पूछने नहीं आऊँगा। अच्छा अब उसे कुछ देते हो या नहीं ?"

—"न दूँगा तो क्या करोगे ?"

—"ठाकुर, अब अधिक बात मत बढ़ाओ, नहीं तो ठीक न होगा। चुपचाप इसकी मजूरी देदो—घण्टे दो घण्टे के दो-चार पैसे तुम्हें काटना हो तो काट लो, समझे ?"

मनोहर ने आरक्त नेत्रों से उपर्युक्त वाक्य कहे। मनोहर यथेष्ट हृष्ट-पुष्ट था। ठाकुर साहब अधेड़ होने के साथ ही साथ दुबले-पतले थे। अतएव मनोहर से रार बढ़ाना उन्होंने उचित नहीं समझा। टेंट से दस पैसे निकाल कर उन्होंने बुढ़िया के सामने भूमि पर फेंक दिये और कहा—"छः पैसे मैंने काट लिये।"

मनोहर ने घृणापूर्वक कहा—"ठीक है ! काकी पैसे उठालो और घर चलो—जो मिला सो सही।"

बुढ़िया पैसे उठाकर चली। साथ-साथ मनोहर भी चला। बुढ़िया बोली—"बेटा, ये पैसे तुम्हारी बदौलत मिले, नहीं ठाकुर एक पैसा भी न देते। भगवान् तुम्हें दूध-पूत से सुखी करें।"

मनोहर बोला—"काकी, अब जब तक जी अच्छा न हो कहीं काम

पर न जाना । रोटी की चिन्ता मत करना। मैं अपने घर से रोज भेजवा दिया करूँगा।"

वृद्धा ने अवाक् होकर कृतज्ञतापूर्ण छलछलाते हुए नेत्रों से मनोहर को देखा।

मनोहर बोला—"घर पहुँचा आऊँ ?"

—"नहीं वेटा, चली जाऊँगी। बड़ी दया की बेटा।

गाँव में तो कोई बात पूछने वाला भी नहीं है।"

वृद्धा आशीर्वादों की झड़ी लगाती हुई गाँव की ओर चली और मनोहर गाँव के बाहर की ओर।

× × ×

मनोहर के विवाह के दिन निकट थे। विवाह की तैयारियाँ हो रही थीं। वृद्धा चमारिन उस दिन से इतनी बीमार हो गई कि फिर उठ न सकी। मनोहर उसकी खोज-खबर लेता रहता था। एक दिन संध्या समय एक चमार मनोहर को बुलाने आया। बोला—"चौधराइन ने आपको बुलाया है।"

मनोहर ने पूछा—"क्या हाल है ?"

—"हाल तो खराब है, भइया! अब अधिक नहीं चलेगी। हमें तो ऐसा मालूम होता है कि आज की रात पार होना ही कठिन है—आगे राम जाने।"

"अच्छा चलो मैं आता हूँ।"

थोड़ी देर में मनोहर चौधराइन के पास पहुँचा। चौधराइन एक कोठरी में भूमि पर कथरी-गुदड़ी बिछाये पड़ी थी। सिरहाने पानी-भरा हुआ एक मैला-सा घड़ा रखा था। एक कोने में चूल्हे के पास चार-पाँच लोहे और पीतल के बर्तन रखे थे। चौधराइन बहुत दुर्बल और अशक्त हो गयी थी। मनोहर ने उसके पास खड़े होकर पुकारा

"काकी !" बुढ़िया ने आँख खोलीं। आँखें फट गयी थीं। मनोहर को देखकर उसने क्षीण स्वर में कहा—"बेटा मनोहर !"

मनोहर बोला—"हाँ काकी मैं हूँ। कैसा जी है ?"

—"अब तो बेटा चल-चलाव है। अच्छा है ! भगवान् ने सुध लेली। इस अन्त समय में तुमने बड़ा साथ दिया बेटा। नहीं तो भूखी-प्यासी तड़प-तड़प कर मर जाती।"

मनोहर के नेत्रों में पानी भर आया। बुढ़िया दम लेकर पुनः बोली—"सुना है. तुम्हारा ब्याह होने वाला है ?"

—"हाँ, काकी होनेवाला तो है।"

—"बस, यही एक साध रह गयी। तुम्हारी बहू का मुँह देखकर मरती तो अच्छा था, पर भगवान् की मरजी नहीं।"

बुढ़िया पुन: कुछ क्षणों तक दम लेकर बोली—"जहाँ इतना किया बेटा वहाँ थोड़ा सा काम और कर देना।"

—"बोलो !"

बुढ़िया ने अपना सिरहाना टटोल कर एक पोटली निकाली और मनोहर की ओर बढ़ाई। मनोहर ने पोटली लेकर कहा—"इसमें क्या है ?"

—"खोलकर देखो।"

मनोहर ने पोटली खोली। उसमें पन्द्रह रुपये नक्द तथा पैर के चाँदी के कड़े का एक टुकड़ा था। मनोहर ने पूछा—"इसे क्या करूँ ?"

—"पन्द्रह रुपये हैं, इनसे मेरी किरिया-करम करा देना। इसी समय के लिए बचा कर रखे थे।"

—"और यह कड़े का टुकड़ा ?"

—"इसे बेचकर अपनी बहू के पैरों का कोई गहना लेकर मेरी

तरफ से मुंह दिखायी दे देना। साध तो यही थी कि मैं अपने हाथों देती पर जैसी भगवान् की इच्छा।"

—"इसकी क्या जरूरत है, काकी! मैं यह सब तुम्हारे ही काम में लगा दूंगा।"

—"ऐसा न करना बेटा! नहीं मेरी आत्मा दुखी होगी। यह मैं जानती हूँ बेटा कि भगवान् का दिया तुम्हारे पास सब कुछ है। मैं तुम्हें क्या दे सकती हूँ। मैं खुद तुम्हारे टुकड़े खा रही हूँ। पर बेटा भगवान् ने भी सुदामा के तन्दुल ले लिए थे। मेरे लिए तुम भी भगवान् का रूप हो। जिसके मन में दया-धर्म है वह भगवान् का ही रूप है। सो बेटा सुदामा के तन्दुल समझ कर इसे लेलो और बहू के पैरों का गहना लेकर मेरी तरफ से दे देना। बेटा! मैं नीच हूँ, तुम्हारी जूती हूँ, इससे तुम्हें मेरी बात अच्छी न लगती होगी, यह मैं जानती हूँ, पर बेटा क्या कहूँ, मेरी यह साध है। साध पूरी हो जायगी तो आत्मा सुखी होगी।"

इतना कहते-कहते बुढ़िया की दम उखड़ गई और वह हाँफने लगी।

मनोहर ने अश्रुपूरित नेत्रों से गद्‌गद्-स्वर में कहा—"अच्छा काकी जैसी तुम्हारी इच्छा। जैसा तुम कहती हो वैसा ही करूंगा।"

—"भगवान् तुम्हें दूध-पूत से सुखी रखें। अब मैं सुख से मरूंगी।"

कोठरी के बाहर आकर मनोहर ने उस चमार से जो उसे बुलाने गया था कहा—"देखो आज रात में इसके पास रहना, हटना नहीं। आज रात पार होना कठिन है।"

× × ×

उसी रात में चौधराइन का देहान्त हो गया। विबाह के कुछ दिनों उपरान्त मनोहर अपनी पत्नी तथा चचाजात भाई के साथ एक पर्व पर शहर में गंगा-स्नान करने गया और उस कड़े के टुकड़े के बदले में उसने अपनी पत्नी के लिए पाजेब खरीद लीं।

× × ×
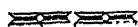
रात के आठ बज चुके हैं। हिन्दू होटल में काफी चहल-पहल है। होटल के कर्मचारी भिन्न-भिन्न मेजों पर बैठे हुए ग्राहकों की आज्ञा-पालन में व्यस्त हैं। एक ओर केबिनेट ग्रामोफोन रखा है और उससे सुरीली तान निकल रही है। इसी समय एक व्यक्ति होटल में आया। यह व्यक्ति सूट-बूट से लैस था परन्तु सिर पर हैट की जगह साफा बाँधे था। इसके मुख पर घनी दाढ़ी थी। यह व्यक्ति आँखों पर नीले रंग का चश्मा चढ़ाये हुए था। रात के समय और सर्दी की ऋतु में इसे नीले रंग का चश्मा लगाये देखकर कुछ कौतूहल हुआ। लोगों ने इसे जरा गौर से देखा।

यह व्यक्ति सीधा एक कोने में अलग रखी हुई मेज की ओर गया। यह मेज पूर्णतया खाली थी। नवागन्तुक इसी मेज के पास बैठ गया और मेज पर रखी हुई उस दिन की भोजन-सामग्री का कार्ड देखने लगा। कुछ देर तक कार्ड देखने के पश्चात उसने पुकारा—ब्याय !"

"हुजूर" कह कर एक सेवक सामने आया।

—"देखो एक प्लेट आलू की टिकियाँ, चार टोस्ट और एक प्याला चाय !"

—"और कुछ ?" सेवक ने पूछा।

—"और कुछ नहीं।"

सेवक रात के समय टोस्ट और चाय की फर्मायिश पर कुछ विस्मय करता हुआ चला गया।

इधर नवागन्तुक कोने में बैठा हुआ प्रत्येक आने जाने-वाले को ध्यान-पूर्वक देख रहा था। थोड़ी देर में सेवक सब चीजें ले आया और मेज पर रख कर चला गया।

नवागन्तुक प्रस्तुत चीजें खाने-पीने लगा परन्तु उसके चंचल नेत्र चारों ओर घूम-घूम कर प्रत्येक व्यक्ति को देख रहे थे। उस व्यक्ति ने उक्त चीजें समाप्त करने में आध घन्टे से अधिक लगाया। उसके भोजन करने के ढंग से स्पष्ट हो रहा था कि उसका मुख्य उद्देश्य होटल में समय काटना है। जब सब चीजें समाप्त हो गयीं तो उस व्यक्ति ने रूमाल से हाथ-मुँह पोंछ कर अपनी जेब से सिगरेट-केस निकाला और सिगरेट पीने लगा। कुछ क्षणों पश्चात सेवक ने आकर पूछा—"और कुछ लाऊँ ?"

वह व्यक्ति बोला—"हाँ, बिल लाओ ! सेवक प्लेटें लेकर चला गया। सेवक के आने के कुछ क्षणों पश्चात ही होटल में दो आदमी आये। उनमें से एक पुरुष था और एक स्त्री। दोनों वेषभूषा से धनिक मालूम होते थे। पुरुष की वयस ३० वर्ष के लगभग होगी और स्त्री की २४, २५ वर्ष के लगभग। पुरुष बिलकुल "क्लीन शेवड्" और गौर वर्ण का सुन्दर पुरुष था और स्त्री का क्या कहना – वह तो परम सुन्दरी थी। नीले रंग की साड़ी तथा नीले ही रंग का कामदार रेशमी जम्पर उसके शुभ्र गौर वर्ण, मुख तथा गले को देदीप्यमान किये हुए थे। दोनों हमारे पूर्व

परिचित नवागन्तुक से कुछ दूर पर एक खाली मेज के निकट बैठ गये। नवागन्तुक इन दोनों को देखकर चौंक पड़ा। इसी समय सेवक प्लेट पर बिल रखे हुए लाया और उसने बिल नवागन्तुक के सामने पेश किया। नवागन्तुक बोला—

"एक जिंजर।"

सेवक ने पूछा—"और कुछ?"

—"और कुछ नहीं।"

सेवक बिल वापस ले गया। नवागन्तुक बड़े ध्यान से उस जोड़े को देखने लगा। पुरुष कार्ड देख रहा था और पास खड़े हुए एक सेवक को आर्डर दे रहा था। बीच-बीच में स्त्री भी अपनी सम्मति प्रकट करती जाती थी। सेवक चीजें लाने चला गया।

इधर नवागन्तुक का सेवक 'जिंजर' तथा बिल ले आया। नवागन्तुक ने बिल चुकता किया और दो आने सेवक को दिये। सेवक सलाम करके चला गया। नवागन्तुक जिंजर पीने लगा; परन्तु उसका ध्यान उक्त स्त्री-पुरुष की ओर था।

सहसा स्त्री बोली—"होटल तो साफ-सुथरा है।"

पुरुष बोला—"हाँ, अच्छा है।"

इधर उधर ताकते हुए स्त्री की दृष्टि नवागन्तुक की ओर पड़ी। नवागन्तुक ने स्त्री को अपनी ओर ताकते हुए देख कर अपना मुख दूसरी ओर घुमा लिया। स्त्री पुरुष से बोली—"देखो, सामने एक आदमी रंगीन चश्मा लगाये बैठा है। रात में रंगीन चश्मा!" इतना कह कर स्त्री ने मृदुहास किया। पुरुष नवागन्तुक को देखकर बोला—"आँखें खराब होंगी, इसलिए रंगीन चश्मा लगाये है।"

—"चाहे जो हो परन्तु इस समय यह चश्मा कितना भद्दा मालूम हो रहा है।" स्त्री ने कहा।

—"और काली दाढ़ी के साथ होने से और भी खराब मालूम होता है ।"

इसी समय सेवक उनकी भोजन-सामग्री ले आया। दोनों ने खाना आरम्भ किया। नवागन्तुक पुनः इन दोनों की ओर दृष्टि जमाकर धीरे-धीरे जिंजर पीने लगा।

बीस मिनट में दोनों ने भोजन समाप्त किया। तबतक नवागन्तुक भी जिंजर "चाटता" रहा। भोजन समाप्त करके पुरुष ने बिल अदा किया और एक सिगरेट सुलगाई। तत्पश्चात वह स्त्री सहित उठ कर चल दिया। इधर नवागन्तुक भी उठकर रूमाल से मुँह पोंछता हुआ उनके पीछे-पीछे चला।

दूसरे दिन सवा आठ बजे रात को वही नवागन्तुक फिर उक्त होटल में पहुँचा और उसी मेज के निकट आकर बैठ गया। सेवक के आने पर उसने पुनः आलू की टिकियाँ, टोस्ट और चाय का आर्डर दिया।

नवागन्तुक के आने के पन्द्रह मिनट पश्चात ही उक्त जोड़ा भी आया और इस बार नवागन्तुक के इतने समीप बैठा कि यद्यपि दोनों बहुत धीमे स्वर में बातें कर रहे थे परन्तु फिर भी उनकी बातें नवागन्तुक को स्पष्ट सुनायी दे रही थीं। स्त्री कह रही थी—"जब तक यहाँ रहेंगे तब तक शाम का भोजन यहीं किया करेंगे। यहाँ भोजन स्वच्छ और स्वादिष्ट बनता हैं।"

—"इसीलिए तो मैंने इस होटल को पसंद किया अन्यथा यहाँ अनेक होटल हैं।"

—"हिन्दू होटल ?" स्त्री ने पूछा।

—"हाँ, हिन्दू होटल ! उनका नाम हिन्दू होटल नहीं है—हिन्दू होटल तो इसी का नाम है पर अन्य कई होटल भी केवल हिन्दुओं के लिए ही हैं। हाँ, उनके नाम दूसरे-दूसरे हैं।

—"होटल की प्रथा बड़ी अच्छी है इनसे परदेशियों को बड़ा आराम मिलता है।"

—"बेशक, होटल न होते तो हम लोगों को हलवाइयों की पूरियाँ खानीं पड़तीं।

—"अरे राम! मैं तो यदि दो दिन लगातार पूरियाँ खाऊँ तो बीमार पड़ जाऊँ।"

—"तुम्हीं क्यों, मैं भी तो नहीं खा सकता। और मेरा खयाल यह है कि ऐसे आदमी बहुत ही थोड़े होंगे जो कई दिन तक केवल बाजार की पूरियाँ खाकर स्वस्थ रह सकें।" इसी समय उनका भोजन आ गया और वे दोनों भोजन करने लगे।

आध घण्टे पश्चात उक्त दोनों प्राणी चले गये; परन्तु आज नवागन्तुक उनके पीछे न जाकर वहीं बैठा रहा। सेवक उनका बिल लाया। बिल चुका कर उसने सेवक से पूछा--"मैनेजर साहब कहाँ है?"

—"दफ्तर में है। क्यों? क्या कोई शिकायत है?"

"नहीं शिकायत कुछ नहीं। उनसे कुछ बातें करनी हैं।

—"तो दफ्तर में चलिए।"

नवागन्तुक उठ खड़ा हुआ और सेवक के पीछे पीछे चला। दफ्तर के द्वार पर पहुँच कर सेवक ने कहा--"आप ठहरिये, मैं पहले पूछ लूँ। यह कह कर सेवक भीतर चला गया और कुछ क्षणों के पश्चात वापस आकर बोला—"जाइये।"

नवागन्तुक ने दफ्तर में प्रवेश किया। मैनेजर ने एक कुर्सी की ओर इशारा करके कहा—"बैठिए!"

नवागन्तुक कुर्सी पर बैठ कर बोला—"इस होटल के मालिक आप ही हैं।

—"जी हाँ—फर्माइए!"

—"आप यह होटल बेचेंगे ?

मैनेजर ऐसा प्रश्न सुनने के लिए बिल्कुल प्रस्तुत न था। वह कुछ क्षणों के लिए अवाक होकर नवागन्तुक का मुँह ताकने लगा।

नवागन्तुक मैनेजर का भाव समझ कर बोला—"क्यों, आपको आश्चर्य क्यों हुआ ?"

मैनेजर सँभल कर धैर्यपूर्वक बोला—"मुझे जरा भी आश्चर्य नहीं हुआ। मैं केवल यह सोच रहा था कि आप में यह होटल खरीदने की सामर्थ्य भी है या नहीं।

—"यदि सामर्थ्य न होती तो मैं ऐसा प्रश्न ही न करता।"

—"क्या हुआ—लोग बहुत-सी बातें सामर्थ्य के बाहर करने का प्रयत्न करते हैं।"

—"मैं उन लोगों में नहीं हूं—यह विश्वास रखिए।"

—"बड़ी खुशी की बात है।"

—"हाँ तो अब बताइये। यदि आप बेचें तो मैं खरीदने को तैयार हूँ।"

मैनेजर मुस्करा कर बोला—"इस होटल के मूल्य का अनुमान शायद आपने नहीं लगाया।"

—"मुझे अनुमान लगाने की क्या आवश्यकता है। आप जो कहेंगे वही मूल्य होगा।"

अब मैनेजर अपने आश्चर्य को न छिपा सका। वह बोला—"आप बड़े विचित्र आदमी जान पड़ते हैं। आप होटल लेकर क्या करेंगे ?"

—"इससे आपको क्या मतलब ? मैं कुछ भी करूँ। आपको जब कीमत मिल जायगी तब आपकी बला से—मैं इसे कायम रखूँ या इसमें आग लगा दूँ।"

—"ऐसी बात है ?" मैनेजर विचार-सागर में गोते खाते हुए बोला।

—"हाँ, ऐसी ही बात है।"

—"आप कीमत नहीं दे सकेंगे !"

—"इससे भी आपको कोई मतलब नहीं। मैं कीमत दे सकूँगा तभी तो होटल पाऊँगा।"

मैनेजर मुस्कराकर बोला—"मैं एक बात कहूँगा। उस पर आपको कुछ बोलने का अधिकार न होगा।"

—"ऐसा ही सही।" नवागन्तुक बोला। मैनेजर ने गम्भीरतापूर्वक कहा—"बीस हजार।"

नवागन्तुक बोला—"बीस हजार ! इतना अन्धेर ! जब कि होटल की इमारत किराये की है।"

मैनेजर बोला—"मैंने पहले कह दिया था कि मैं जो कीमत कहूँगा उस पर आपको कुछ कहने का अधिकार न होगा।"

—"हाँ-हाँ, अच्छा मुझे तो लेना ही है चाहे जो माँग लो।" इतना कह कर नवागन्तुक ने भीतरी जेब से चमड़े का एक बड़ा बटुआ निकाला। उसमें से उसने हजार-हजार रुपये के बीस नोट निकाल कर अपने सामने मेज पर रख लिए और कहा—"रसीद लिखिए।"

मैनेजर का चेहरा फक हो गया। वह लड़खड़ाती हुई जिह्वा से बोला—"अरे आपने तो सचमुच ही रुपये निकाल कर रख दिये—मैं तो मजाक समझता था।"

—"मजाक की ऐसी-तैसी ! मेरा आपका क्या मजाक ? अपरिचित लोगों से मजाक करने का मेरा स्वभाव नहीं है। लिखिए, रसीद लिखिये !"

—"परन्तु.... ....।"

नवागन्तुक बोल उठा—"अरन्तु-परन्तु को जेब ही में रखिये और रसीद लिखिए। भले आदमियों की एक जबान होती है। मैं भी इसी-लिये सात-आठ हजार की चीज के बीस हजार दे रहा हूं।"

मैनेजर ने मुस्करा कर कागज-कलम उठाया। "रसीद किस नाम से होगी?" मैनेजर ने पूछा।

"मेरे नाम से। मेरा नाम मङ्गलसिंह है।"

मैनेजर रसीद लिखने लगा।

(३)

मङ्गलसिंह हिन्दू होटल का मालिक हो गया।

नियमानुसार वही जोड़ा भोजन करने के लिए आया। दोनों एक खाली मेज के निकट बैठे। पुरुष कार्ड उठा कर देखने लगा। परन्तु आज स्त्री के मुख पर गहरी उदासी थी। वह मूर्तिवत्त चुपचाप बैठी थी। आज उसकी दृष्टि इधर-उधर न जाकर केवल मेज पर लगी हुई थी। पुरुष ने कार्ड देख कर पूछा—"क्या खाओगी?"

स्त्री ने कोई उत्तर न दिया। वह मेजपोश को उँगली से खरोंचने लगी। पुरुष ने पुनः पूछा—"क्या मँगाया जाय?" स्त्री बोली—"मैं कुछ न खाऊँगी—मुझे भूख नहीं है।"

—"खाया क्या है जो भूख नहीं है।"

—"मार खायी है—और क्या खाया है।" स्त्री नेत्रों में आँसू भर कर बोली।

"वह तो तुम्हारे भाग्य में लिखा है—मैं मजबूर हूँ।"

—"मुझे मेरे घर पहुंचा दो—मेरे भाग्य में जो बदा होगा वह होगा।"

—"मैं क्यों पहुँचा दूँ—तुम्हारी इच्छा हो तो स्वयं चली जाओ।"

—"लाने के लिए तुम थे और चली मैं अपने आप जाऊँ।"

पुरुष कुछ कहने ही वाला था कि उसने देखा कि लोगों का ध्यान उसकी ओर लगा हुआ है। यह देख कर उसने पुकारा—"ब्वाय !"

"हुजूर !" कहकर एक सेवक सामने आ खड़ा हुआ।

पुरुष ने तीन-चार चीजों का नाम बता कर कहा—"जल्दी लाओ !"

ब्वाय सीधा मैनेजर के दफ्तर में पहुंचा। मैनेजर की कुर्सी पर मंगलसिंह बैठा था। उसके सामने पहुंच कर "ब्वाय" ने कहा—"वह जोड़ा आ गया है।"

"अच्छा।" कह कर मंगलसिंह चैतन्य हो गया। "और कोई खास बात ?" मंगलसिंह ने पूछा।

—"आज दोनों में कुछ झगड़ा हुआ है। मैं जरा दूरी पर खड़ा था इससे बातें तो साफ सुनाई नहीं पड़ीं, परन्तु यह साफ मालूम हुआ कि कुछ झगड़ा हुआ है।"

—"अच्छा उससे जाकर कहो कि यदि वह किसी एकान्त स्थान में बैठना चाहे तो प्रबन्ध हो सकता है। जो वह यह बात स्वीकार कर ले तो उसी कमरे में लेजाकर बिठलाओ जिसे मैंने आज ठीक कराया है और मुझे इत्तला देना।" "जो हुक्म" कहकर ब्वाय सीधा उस पुरुष के पास पहुंचा। उसे खाली हाथ आते देख कर वह व्यक्ति कुछ अप्रसन्न होकर बोला—"लाये नहीं !"

ब्वाय अत्यन्त नम्रतापूर्वक बोला—"मैं यह पूछने आया हूँ कि अगर हुजूर कोई एकान्त जगह चाहें तो इन्तजाम हो सकता है।"

—"एकान्त जगह ? क्या जरूरत है ?" परन्तु स्त्री की ओर देख कर उसने तुरन्त कहा—"अच्छा एकान्त जगह में ले चलो।"

"आइये।" कह कर ब्वाय चला।

पुरुष उठ खड़ा हुआ। स्त्री भी अनिच्छा से उठ कर पुरुष के पीछे हो ली।

ब्वाय दोनों को एक जीने द्वारा ऊपर ले गया। वहाँ अनेक कमरों के सामने, जिनमें लोग बैठे शराब-कबाब उड़ा रहे थे, होता हुआ ब्वाय दोनों को एक कमरे में ले गया। इस कमरे में एक मेज और चार-पाँच कुर्सियाँ पड़ी थीं। मेज पर बीचों-बीच में एक गुलदान, जिसमें ताजा गुलदस्ता लगा हुआ था, रखा था। उसी के पास एक अंग्रेजी ढंग का नकमदान रखा हुआ था। इस कमरे में दो द्वार थे। एक तो वह द्वार था जिससे ये लोग अन्दर आये थे और दूसरा ठीक उसके सामने दूसरी ओर था। यह द्वार बन्द था।

पुरुष कुर्सी पर डट गया और बोला—"यह जगह बिल्कुल ठीक है।" स्त्री भी पुतली की तरह एक दूसरी कुर्सी पर बैठ गयी। पुरुष बोला—"जब जगह ठीक मिली है तब थोड़ी चुस्की भी लग जाय तो क्या हर्ज है।"

इतना कह कर वह ब्वाय से बोला—"ब्वाय दो पेग ब्राण्डी और सोड़ा।"

—"कौन सी बराण्डी लाऊँ ?

—"एक्शा नम्बर दो।"

पुरुष को शराब के लिए आर्डर देते देख स्त्री के मुख पर भय के चिह्न उत्पन्न हुये। ब्वाय चला गया।

ब्वाय पहले सीधा मङ्गलसिंह के पास पहुंचा और बोला—"हुजूर सब ठीक है। उसी कमरे में बिठा आया हूँ। हाँ, आज उसने दो पेग बराण्डी भी माँगी है।"

—"जरूर पहुँचाओ। दो नहीं बल्कि तीन पेग कर देना।"

—"जो हुक्म" कह कर ब्वाय चला गया। इधर मंगलसिंह उ

खड़ा हुआ और दफ्तर के एक दूसरे द्वार से जिस पर पर्दा पड़ा हुआ था, चला गया।

ब्वाय ने शराब तथा अन्य सामान पहुँचाया। सामान मेज पर रख कर वह बाहर आया और जिस द्वार से वह प्रविष्ट हूआ था उसके किवाड़ धीरे से उसने ओढ़का दिये। भीतर की ओर द्वार पर पर्दा पड़ा था इसलिए उसे किवाड़ ओढ़काते न तो पुरुष ने देखा और न स्त्री ने—केवल कुछ शब्द सुना। ब्याय ने किवाड़ बन्द करके अपनी जेब से चाभी निकाली और बाहर से ताला बन्द कर दिया।

इधर वह पुरुष शराब का ग्लास हाथ में लेकर बोला—"लो जरा-सी चुस्की लगाओ, अभी सब सुस्ती दूर हो जायगी।"

स्त्री बोली—"वस, तुम्हीं सुस्ती दूर करो। मेरी सुस्ती तो अब चिता पर दूर होगी।"

—"चिता पर दूर होगी? हाँ-हाँ चिता में शराब से अधिक गर्मी है।"

इतना कहकर उसने कहकहा लगाया। स्त्री ने घृणापूर्वक मुँह फेर लिया।

(४)

पुरुष धीरे-धीरे शराब पीता रहा और भोजन करता रहा। स्त्री मुँह दूसरी ओर किये बैठी थी। उसके मुख पर घृणा तथा दुःख के स्पष्ट चिन्ह विद्यमान थे। वह रह रह-कर ठंडी साँसें ले रही थी। सहसा पुरुष ने पूछा—"ये ठंडी साँसें किसकी याद में ली जा रही हैं?"

स्त्री ने कोई उत्तर न दिया।

पुरुष बोला—"मंगलसिंह याद आ रहा है, क्या?" स्त्री मौन रही। वह व्यक्ति बोला—"मंगलसिंह के बाप को भी पता न होगा कि तुम कहाँ हो।"

इसी समय कमरे का दूसरा द्वार जो अभी तक बन्द था अकस्मात

खुल गया और कोई व्यक्ति यह कहता हुआ अन्दर आया—"मंगलसिंह के बाप को चाहे पता न हो, परन्तु मंगलसिह तो तुम्हारे साथ ही साथ है।" यह कहता हुआ मङ्गलसिंह उस व्यक्ति के सम्मुख आकर खड़ा हो गया। इस समय मङ्गलसिंह के मुख पर दाढ़ी नहीं थी, और न आँखों पर चश्मा ही था। मंगलसिंह को देखते ही उस व्यक्ति के मुख से निकला—"हैं!" और उसका चेहरा श्वेत पड़ गया। इधर स्त्री मंगल-सिंह लिपटकर बोली—"बचाओ! बचाओ! इस पिशाच से मेरी रक्षा करो।"

मंगलसिंह बोला—"पिशाच! मैं तो समझा था कि आशादेवी किसी देवता के साथ भागी हैं।" इतना कहकर मंगलसिंह ने स्त्री को अपने से अलग कर दिया। स्त्री उसके बगल में खड़ी होकर रोने लगी। मंगलसिंह उस व्यक्ति से बोला—"क्यों शीतलप्रसाद! तुमने आशा से विवाह तो अवश्य ही कर लिया होगा?" इतनी देर में शीतलप्रसाद ने अपने को सँभाल लिया था। वह किंचित मुस्करा कर बोला—"सगाई तो तुमसे हुई है—मैं विवाह कैसे कर सकता हूँ। तुम्हारी चीज तुम्हें मुबारक हो। मैं तो इससे स्वयं आजिज आ गया हूँ।"

"अच्छा तो क्या तुम इसे त्यागते हो?"

—"खुशी से, और तुम दोनों को आशीर्वाद देता हूं कि आजीवन प्रेमपूर्वक रहकर फलो-फूलो।"

—"परन्तु शीतलाप्रसाद तुम्हें शायद यह नहीं मालूम है कि गीदड़ के मुँह का उगला हुआ शिकार सिंह कभी ग्रहण नहीं करता।"

—"परन्तु सिंह का शिकार गीदड़ कैसे ले भागा?" शीतलाप्रसाद व्यंग्यपूर्वक बोला।"

—"कभी-कभी ऐसा हो जाता है। जब शिकार अपनी जान बचाने के लिए सिंह के मुँह से छूट कर भागता है तब वह गीदड़ को मिल जाता है।"

मङ्गलसिंह आशादेवी से बोला—"मेरे साथ सगायी हो चुकने पर भी तुम इसके साथ भाग आयी हो । अब तुम्हें इसी के साथ रहना चाहिए ।"

—"नहीं ! नहीं ! मैं इसके साथ एक क्षण भी नहीं रह सकती। मैंने जो पाप किया है उसके लिए मैं सब प्रकार के दण्ड सह सकती हूँ परन्तु इसके साथ कदापि नहीं रहूँगी, यह मनुष्य नहीं राक्षस है।"

—"राक्षस समझ कर ही तो तुम मेरे साथ चली आयी थीं—क्यों न ?"

—"बस चुप रहो !" मङ्गलसिंह ने शीतलाप्रसाद को डाँटा।

शीतलाप्रसाद कुछ भयभीत होकर अप्रतिभ हो गया। परन्तु फिर सँभल कर बोला—"यह गीदड़-भपकी !"

—"अभी पता लग जायगा कि यह गीदड़-भपकी है या क्या है। आशादेवी, तुम क्या चाहती हो ?"

—"इस पिशाच के चंगुल से छुड़ा कर अपने चरणों में शरण दो।"

इतना कहते हुए आशादेवी ने बैठ कर मङ्गलसिंह के चरण पकड़ लिये।

मंगलसिंह पीछे हट कर बोला—"इन चरणों का तुमने तिरस्कार किया इसलिए अब इन चरणों में तुम्हारे लिए स्थान नहीं है। हाँ, इस राक्षस के चंगुल से तुम छूट जाओगी क्योंकि इसके पंजे से तुम्हें छुड़ाने के लिए ही मैं तीन महीने से तुम लोगों की तलाश में हूँ। आगरे में तुमको देखा। वहाँ से तुम्हारे पीछे-पीछे यहाँ आया।"

इतना कह कर मंगलसिंह जिस द्वार से आया था उसकी ओर देख कर बोला—"लाओ।" उसके यह आवाज देते ही एक सेवक एक तश्तरी में दो ग्लास रखे हुए लाया। दोनों ग्लास लाल रंग के पदार्थ से भरे हुए

थे। सेवक ग्लास मेज पर रखकर चला गया। मंगलसिंह बोला—"शीतलाप्रसाद ! विदा होते समय हम तुम एक साथ एक-एक ग्लास पिएं।"

—"क्या शराब है ?" शीतलाप्रसाद ने पूछा।

—"शराब तो मैं पीता नहीं, शरबत है।"

—"अच्छी बात है लाओ।" यह कह कर शीतलाप्रसाद ने एक ग्लास उठा लिया। दूसरा ग्लास मंगलसिंह ने उठा लिया।

मङ्गलसिंह बोला—"हमारे तुम्हारे बीच में जो कटुता उत्पन्न हो गयी है आशा है इस शरबत से वह सदैव के लिए दूर हो जायगी और इसके पश्चात् जब हम तुम मिलेंगे तो शुद्ध हृदय से मिलेंगे।"

—"ठीक है। मङ्गलसिंह तुम भले आदमी हो।"

इतना कहकर शीतलाप्रसाद ने ग्लासवाला हाथ ऊपर उठाकर कहा—"मङ्गलसिंह ! आपकी तन्दुरुस्ती का जाम !" इतना कह कर शीतलाप्रसाद शरबत पी गया। मङ्गलसिंह अपना ग्लास हाथ ही में लिए खड़ा रहा।

परन्तु शीतलाप्रासाद शरबत पीते ही चिल्लाकर बोला—"ओ यह क्या !" इतना कहते हुए उसने अपना गला पकड़ा उसके मुँह पर असह्य वेदना के भाव उत्पन्न हुए। वह उठ कर खड़ा हो गया। कुछ क्षणों तक डगमगा कर संभलने की चेष्टा करता हुआ वह धम से भूमि पर गिर पड़ा।

आशा देवी घबराकर बोली—"यह क्या ?" मङ्गलसिंह बोला—"राक्षस का अन्त और तुम्हारी मुक्ति।" इतना कह कर उसने जेब से एक लिफाफा निकाला और उसे मेज पर रख कर बोला—"इसमें दस हजार के नोट हैं और इस होटल का हिबानामा तुम्हारे नाम का है। मैंने यह होटल तुम्हारे नाम कर दिया है।"

—"और तुम ?"

—"मैं ! मैं भी जाता हूँ। मेरा काम खत्म हो गया, मेरे जीवन का उद्देश्य आज पूरा हो गया। अब इस संसार में मेरे लिए कोई आकर्षण नहीं रहा।"

इतना कहकर मंगलसिंह ने अपना ग्लास जल्दी से पी डाला। शरबत पीने के दो मिनट पश्चात ही मंगलसिंह भी निर्जीव होकर गिर पड़ा।

शाम के समय अपने एक मित्र के साथ मैं घूमने निकला। घर से निकलते ही मेरे मित्र ने प्रश्न किया—"किस ओर चलोगे?"

"चाहे जिधर चलो! अपना उद्देश्य तो केवल टहलना है।" मैंने उत्तर दिया।

"अच्छा तो आओ आज..............घाट चलें।" मित्र ने कहा।

जिस घाट का नाम मित्र महोदय ने लिया वह गंगा का एक घाट है। वैसे तो गंगा-तट पर अनेक घाट हैं परन्तु उक्त घाट अन्य घाटों की अपेक्षा अधिक रमणीक तथा शान्त है। वहाँ अधिक भीड़-भाड़ नहीं रहती – विशेषकर संध्या समय।

मैंने भी मित्र का प्रस्ताव पसंद किया और हम दोनों उसी ओर चले।

थोड़ी दूर चल कर सहसा मित्र महोदय बोल उठे—"सुनते हैं उस घाट पर एक साधु आये हुए हैं।"

—"आये होंगे। गंगा का तट है, अनेक साधु आते रहते हैं।"

—"हाँ, साधु-सन्यासी तो बहुत आते रहते हैं, परन्तु इनकी लोग बड़ी प्रशंसा करते हैं। सुना है कि ये किसी से कुछ माँगते-वाँगते नहीं। पढ़े-लिखे आदमी हैं। अंग्रेजी जानते हैं; उर्दू-हिन्दी का भी काफी ज्ञान है।"

—"संभव है। चल तो रहे ही हैं, उनकी भी नब्ज देखेंगे। वैसे साधु-संन्यासियों पर अपने राम की अधिक श्रद्धा-भक्ति नहीं रहती।"

—"हाँ, ढोंगी बहुत आते हैं। अच्छा साधु तो कभी बरसों में कोई दिखायी दे जाता है।"

—"यह भी आजकल एक पेशा हो गया है।"

—"चाहे जो हो; परन्तु एक बात तो अवश्य माननी पड़ेगी। रंगे कपड़ों का रोब पड़ता है। किसी संन्यासी को काषाय वस्त्र पहने देख कर कुछ आतंक सा अनुभव होता है। चाहे वह ढोंगी हो, चाहे धूर्त।"

—"यह संस्कार की बात है। हम लोगों के संस्कार बाल्यकाल से ऐसे पड़ जाते हैं। हमको यह शिक्षा दी जाती है कि साधु-संन्यासी पहुँचे हुए लोग होते हैं। वे कृपालु हो जायँ तो निहाल कर दें, क्रुद्ध हो जायँ तो अनिष्ट कर डालें। इसलिये संन्यासियों को देख कर सबसे पहले हमारे हृदय पर उनका आतङ्क छा जाता है। और यही बात हम लोगों के ठगे जाने का कारण भी होती है।"

इसी प्रकार की बातें करने हुये हम लोग उक्त घाट के निकट पहुंच गये। घाट के एक कोने पर एक मन्दिर था और स्नानार्थियों के विश्राम के लिये तीन-चार कमरे बने हुए थे। इसी ओर कुछ भीड़-भाड़ दिखायी पड़ी। मित्र महोदय बोले—"यह भीड़ उन्हीं संन्यासी के कारण है अन्यथा यहाँ इस समय इतने आदमी कभी नहीं रहते।"

—"भगवान् जाने हम लोगों को कब बुद्धि आवेगी। जहाँ किसी

साधु-महात्मा को पाया बस समझने लगते हैं कि परमात्मा आ गया।"

—"यह भी वही संस्कार है जिसक वर्णन तुम अभी कर चुके हो। लोग समझते हैं कि साधु महात्मा उनके कष्ट दूर कर देंगे, उनकी इच्छा पूर्ण कर देंगे। इसीलिये आते हैं।"

थोड़ी दूर और चलने पर हम दोनों उक्त स्थान के बिल्कुल निकट पहुँच गये। अब स्पष्ट दिखायी पड़ने लग। एक तख्त पर एक सन्यासी बैठा हुआ था—नीचे पक्के फर्श पर चटइयाँ पड़ी थीं, उन चटाइयों पर कुछ स्त्री-पुरुष बैठे हुए थे। हम लोग निकट जाकर कुछ दूर पर खड़े हो गये।

संन्यासी की वयस तीस-बत्तीस से अधिक नहीं थी। गौर बर्ण, दोहरा बदन परन्तु कुछ कृशता लिये हुए। मुख पर शिक्षा तथा अनुभव का गाम्भीर्य परन्तु उसके साथ ही कुछ विषाद भी था। जब वह मुस्कराता था तो उक्त विषाद और भी स्पष्ट हो जाता था। उस मुस्कराहट में प्रसन्नता की पुट का अभाव था। हम लोग खड़े-खड़े उसकी बातें सुनने लगे। वह कह रहा था—"आप लोग मेरे पास क्यों दौड़-दौड़ कर आते हैं? मेरे पास कुछ नहीं है। मैं आपकी कोई भी सेवा नहीं कर सकता, कोई हित नहीं कर सकता।"

एक महाशय बड़ी भक्ति-पूर्वक हाथ जोड़कर बोले—"आपका उपदेश ही हमारे लिये सबकुछ है।"

—"वह भी मेरे पास नहीं है। मैं तो स्वयम् ऐसे आदमी की खोज में हूँ जो मुझे कुछ उपदेश दे। मैं भला किसी को क्या उपदेश दूँगा। फारसी की एक कहावत है—'ओ ख्वेशतन गुमस्त केरा रहबरी कुनद।' जो खुद रास्ता भूला हुआ है वह दूसरों को रास्ता क्या बता सकता है।"

एक अन्य महोदय बोले—"महात्मा लोग ऐसी ही बातें किया करते हैं।"

—"मैं तो महात्माओं के पैरों की धूल भी नहीं हूँ, भाई! तुम लोग मुझे न जाने क्या समझ रहे हो।"

उसकी बातें सुनकर मैंने मित्र से धीमे स्वर में कहा—"या तो यह सचमुच अच्छा आदमी है और या फिर परले सिरे का धूर्त है। जो पक्के धूर्त होते हैं वे अपने प्रति लोगों की श्रद्धा-भक्ति बढ़ाने के लिये आरम्भ में ऐसी ही बातें किया करते हैं।"

सहसा उसने हम लोगों की ओर घूम कर देखा। हम लोगों की कानाफूसी का स्वर शायद उसने सुन लिया—यद्यपि समझना असंभव था। हम लोगों को देखकर उसने मुस्कराते हुए कहा—"आप लोग खड़े क्यों हैं, आइए बैठिये।"

बैठने की इच्छा न होते हुए भी हम लोग उसका निमन्त्रण अस्वीकार न कर सके। चुपचाप जूते उतार कर एक ओर चटाई पर जा बैठे।

कुछ देर तक हम दोनों को ध्यानपूर्वक देखने के पश्चात् उसने पूछा—"आप लोग यहीं के रहनेवाले हैं?"

मित्र महोदय झट बोल उठे—"जी हाँ!"

कुछ क्षणों तक मौन होकर वह हम लोगों को देखता रहा। ऐसा जान पड़ता था मानों वह हमारा अध्ययन कर रहा है। अपने राम मन में बोले—"चाहे जितना गौर से देखो, हम लोगों को समझना सरल नहीं है। हम लोग भी बड़े पहुँचे हुए हैं।" कुछ क्षणों के पश्चात् संन्यासी ने हम दोनों की जाति पूछी। वह भी हम लोगों ने बतादी। फिर व्यवसाय पूछा, उसका भी समुचित उत्तर दे दिया गया। अब संन्यासी हमी लोगों से बातें करने लगा। अन्य लोगों ने जब देखा कि उनकी ओर संन्यासी ध्यान ही नहीं देता तब वे एक-एक दो-दो करके खिसकने लगे और थोड़ी देर में केवल हम दोनों तथा एक अन्य व्यक्ति

रह गया।

(२)

दूसरे दिन संध्या समय हम लोग फिर उसी संन्यासी के पास पहुँचे। मेरे मित्र महोदय संन्यासी से प्रभावित हो गये थे और, उनकी यह धारणा हो गयी थी कि वह बना हुआ तथा ढोंगी संन्यासी नहीं है, यद्यपि मुझे अब भी सन्देह था।

आज उक्त संन्यासी के पास अधिक लोग नहीं थे केवल दो सज्जन बैठ हुये थे। इनमें से एक तो कोई बीस-बाइस वर्ष का नवयुवक था और दूसरा चालीस-बयालिस वर्ष का प्रौढ़। हम लोगों को देखते ही संन्यासी ने मुस्करा कर हम लोगों का स्वागत किया और बड़े आदर-पूर्वक बैठाया।

हम लोगों के बैठने के पश्चात् संन्यासी उस प्रौढ़ व्यक्ति से बोला—"संसार में कभी-कभी साधारण तथा बहुत छोटी बात का परिणाम भी बड़ा भयानक हो जाता है।

इसलिये मनुष्य को बहुत सावधान रहना चाहिये। आपका यह पुत्र अभी नवजवान है, इसे तजुरवा नहीं है। क्यों भई ? तुम क्यों अपने पिता को कष्ट पहुँचाते हो ?"

नवयुवक बोला—"महाराज, मैं तो कभी कष्ट नहीं पहुँचाता हूँ। यही जरा-जरा सी बात को लेकर तिल का ताड़ बनाया करते हैं।"

—"मैं कहता हूँ कि छोटी-छोटी बातों का परिणाम भी बड़ा भयानक हो जाता है। क्या तुम सोच सकते हो कि एक बहुत ही साधारण घटना के कारण आज एक व्यक्ति घर-द्वार-विहीन है जब कि केवल साल भर पहले अर्थात् आज ही कल के दिनों में वह एक सुखी गृहस्थ था। उसकी पत्नी थी, पुत्र था, नौकरी थी, आशाएँ थीं, महत्वाकांक्षाएँ थीं—क्या नहीं था ! सब विलीन हो गया। पलक झपकते ही

सबकुछ बदल गया और पिछला सुखमय जीवन केवल एक-कहानी मात्र रह गया। और यह सब हुआ एक बहुत ही साधारण बात के कारण।

मेरे मित्र बोल उठे—"यह किसका ज़िक्र है?"

—"किसी का है पर है बिल्कुल सच्ची घटना। सुनोगे?"

—"सुनाइए! ऐसी घटना तो अवश्य सुनेंगे।"

—"सुनो।" कह कर संन्यासी कुछ क्षण मौन होकर सोचता रहा तत्पश्चात् बोला—एक व्यक्ति था। वह एक बैंक में सवा सौ रुपये मासिक वेतन पाता था। उसकी पत्नी सुन्दर तथा सुशील थी, एक दस बरस का पुत्र था। उसका जीवन बड़ा सुखयय था। उसका जीवन देख कर बड़े-बड़े धनिकों को ईर्ष्या होती थी। वह स्वयं अपने सामने बड़ों-बड़ों की हस्ती कुछ नहीं समझता था। उसका विचार था कि जो सुख-शान्ति तथा निश्चिन्तता उसे प्राप्त है वह लखपतियों को भी नसीब नहीं। पारसाल की बात है। उसकी पत्नी गर्भवती थी। प्रसव-काल निकट आ रहा था, अतएव उसने उस समय अपनी सेवा-सुश्रूषा के लिये अपनी वड़ी विधवा भगिनी को अपने पास बुला लिया था। उसकी बड़ी बहिन उससे केवल तीन वर्ष बड़ी थी और उससे सुन्दर भी कुछ अधिक थी।

विधवा को आये हुये पन्द्रह दिन बीत चुके थे। एक दिन उस व्यक्ति ने केवल परिहास करने के अभिप्राय से अपनी पत्नी से कहा—"तुमने अपनी बहिन को यहाँ बुला-कर ठीक नहीं किया।" पत्नी ने पूछा—"क्यों?" उसने उत्तर दिया—

"तुम्हारी बहिन जवान है और सुन्दर—कहीं ऐसा न हो कि मेरी तबियत....।" इतना कह कर जोर से हँसा। पत्नी ने पति पर एक तीव्र दृष्टि डाली और "हूँ" कह कर गम्भीर हो गयी।

इसके तीन चार दिन पश्चात् रात के बारह बजे के निकट उस

व्यक्ति को शौच जाने की आवश्यकता पड़ी। उस समय उसकी पत्नी तथा पुत्र दोनों सो रहे थे। उसने अपनी पत्नी को जगाना उचित न समझ कर अपनी साली को जगाया और उसने कहा —"मैं पाखाने जा रहा हूँ, तुम एक लोटा पानी हाथ-मुँह धोने को रख आना।" यह कह कर वह शौच चला गया। जब वह पाखाने से निकला उसी समय उसकी साली पानी लेकर पहुंची और लोटा रख कर लौट गयी। उसके पश्चात ही जब वह व्यक्ति भी हाथ-मुँह धोकर भीतर पहुँचा तो उसने सुना, उसकी साली अपनी बहिन से कह रही थी—"उन्हें पानी देने गयी थी, पाखाने गये थे।" पत्नी यह सुन कर एकदम मौन हो गयी। इस विचार से कहीं उसकी पत्नी को कोई और संदेह न हो उसने कहा—"मैंने तुम्हें जगाना उचित न समझा, तुम गहरी नींद में सो रही थीं।"

पत्नी ने धीमे स्वर में कहा—"अच्छा किया।"

दूसरे दिन उसकी पत्नी दिन भर गम्भीर रही मानों किसी गहरे विचार में थी। रात में उसने पति से कहा—"मेरा विचार है कि मैं माँ के पास चली जाऊँ। वहाँ ठीक रहेगा। यहाँ ठीक न रहेगा।" पति ने पूछा—क्यों! ठीक क्यों न रहेगा?" पत्नी बोली—"पहले जब मुन्नू हुआ था तब तो सास जी थीं। उन्हें सब अनुभव था—जीजी को अनुभव नहीं है। उनके कोई बच्चा नहीं हुआ तो अनुभव कहाँ से हो। इससे वहीं ठीक रहेगा। वहाँ माँ हैं, वह सब जानती-बूझती हैं। पति ने कहा—"यह बात थी तो तुमने अपनी जीजी को बुलाया ही क्यों!" पत्नी बोली—"हाँ, यह भूल हुई। उस समय मुझे इस बात का ध्यान भी नहीं आया था। खैर आ गयीं तो क्या हुआ। यहाँ इतने दिनों रह लीं, जी बहल गया।"

उस व्यक्ति ने कहा—"हाँ, यह तो ठीक है। परन्तु तुम्हारे वहाँ चले जाने में मुझे तो बड़ा कष्ट हो जायगा।"

पत्नी बोली—"कष्ट काहे का। खाली खाने-पीने का कष्ट होगा, सो महीने दो महीने के लिये ब्राह्मण रख लेना, अधिक से अधिक मुझे दो महीने लगेंगे।" पति ने समझ लिया कि उसकी पत्नी को उसके तथा उसकी साली के सम्बन्ध में कुछ सन्देह हो गया है। वैसे तो चाहे न भी होता; पर वह व्यक्ति एक दिन स्वयं हँसी-हँसी में कह चुका था कि—"तुमने अपनी बहिन को बुला कर ठीक नहीं किया।" इसलिए पत्नी को सन्देह होना स्वाभाविक ही था। यह सोच कर पति अधिक कुछ न कह सका। क्योंकि उसे भय हुआ कि कहीं अधिक कहने से उसकी पत्नी का सन्देह दृढ़ न हो जाय कि जीजी को यहाँ रखने के लिए ही मायके नहीं भेज रहे हैं। यह सब सोच समझ कर पति ने कहा—"जैसा तुम उचित समझो, परन्तु मेरी समझ में वहाँ जाने की कोई आवश्यकता नहीं है।" पत्नी बोली—"आवश्यकता है। मेरा जाना कई कारणों से आवश्यक है। समझे? तुमने स्वयं कहा था कि जीजी को यहाँ बुलाना ठीक नहीं हुआ।"

पति बोला—"अरे वह तो मज़ाक था।"

पत्नी ने मुस्करा कर कहा—"और मैं चाहती हूँ कि वह मजाक ही रहे, इसीलिए मायके जा रही हूँ। यहाँ रहने से संभव है वह कोरा मजाक न रह सके।" वह व्यक्ति चुप हो गया। उसने कहा—"जैसी तुम्हारी इच्छा।"

पत्नी के मायके जाने की सब तैयारी होगयी। वह व्यक्ति बोला—"तुम्हारे साथ जाने के लिए कैसा क्या होगा मुझे तो छुट्टी मिलना कुछ कठिन है। वैसे आवश्यता तो कुछ नहीं है। कुल पाँच घण्टे का सफर है, और दिन का सफर है। यहाँ तुम्हें गाड़ी में बिठा दूँगा। तुम्हारे भाई को तार दे दूँगा। वह वहाँ स्टेशन पर आ जायगा।"

पत्नी बोली—"ठीक है। गाड़ी कहीं बदली नहीं जाती। पहले भी एक दफा ऐसे जा चुकी हूँ। किसी के साथ जाने की आवश्यकता

नहीं है।"

यह निश्चित होने पर पति ने अपने साले को स्टेशन पर आने के लिए तार दे दिया, और सबेरे दस बजे की गाड़ी पर अपनी पत्नी, लड़के तथा साली को बिठा दिया। जिस समय ट्रेन छूटी उस समय एक क्षण के लिए उसके मन में सहसा यह बात उठी कि—"उसने पत्नी को भेज कर गलती की।" पर दूसरे क्षण ट्रेन स्टेशन के बाहर हो चुकी थी। अब मैं आपसे पूछता हूँ कि इस घटना में आपको कोई असाधारण बात मिलती है ?

मैं बोल उठा—"इसमें तो कोई असाधारण बात नहीं, बिल्कुल मामुली बात है।"

"और यह बात भी आप मानेंगे कि उस व्यक्ति ने जो अपनी पत्नी से परिहास किया था वह भी मामूली बात थी।" सन्यासी ने कहा।

—"बिल्कुल ! ऐसा बहुधा होता है ! यद्यपि इसे कुरुचिपूर्ण परिहास कहते हैं।"

—"कुरुचि और सुरुचि की बात छोड़िए। प्रश्न तो केवल यह है कि यह कोई ऐसी बात नहीं थी जिसका कोई भीषण परिणाम होता।"

—"नहीं, जब वह मायके चली गयी तो किसी भी भीषण परिणाम की संभावना नहीं रही। हाँ, यदि वह रहती तो सम्भव था कि जो बात परिहास में कही गयी थी वह सच हो जाती। उस दशा में कोई असाधारण परिणाम होना संभव था।"

सन्यासी ने अपने नेत्र बन्द कर लिये। कुछ क्षणों तक वह मौन रहा। इसके पश्चात उसने नेत्र खोले। उसके नेत्र लाल हो गये थे और उनमें तरी आ गयी थी। उसने किञ्चित गद्‌गद् कंठ से कहा—"वह दिन पति-पत्नि, पुत्र तथा साली की भेंट का अन्तिम दिन था। उसके पश्चात आज का दिन है—उस व्यक्ति की उन लोगों से भेंट नहीं हुई।",

मैं विस्मित होकर बोल उठा—"क्यों, क्या हुआ?"

—"जिस गाड़ी से वे गये थे, वह गाड़ी स्टेशन के पास लड़ गयी और तीनों की मृत्यु हो गयी। पारसाल एक ट्रेन लड़ी थी—शायद आप लोगों ने समाचारपत्रों में पढ़ा होगा।"

मैं बोल उठा—"मुझे याद है। उसमें बहुत से मनुष्य हताहत हुए थे।"

—"वही! उसका पति ट्रेन लड़ने का समाचार पाकर उनकी तलाश में गया; पर कोई पता न लगा। ट्रेन लड़े ३६ घन्टे हो चुके थे और सब लाशें ठिकाने लगा दी गयी थीं। रेलवेवाले लाशों का पता नहीं लगने देते—लोग कहते हैं। कुछ भी हो। उस दिन से वे लापता हो गये और वह व्यक्ति केवल एक साधारण परिहास के कारण पत्नी-हीन, पुत्र-हीन होकर संसार में अकेला रह गया। यदि वह उक्त परिहास न करता तो उसकी पत्नी को मायके जाने की कोई आवश्यकता न पड़ती। इस प्रकार एक साधारण सी बात के कारण एक व्यक्ति का सब कुछ चौपट हो गया।

हम लोग स्तब्ध रह गये। संन्यासी अपने नेत्रों को पोंछता हुआ बोला—"यह संसार बड़ विचित्र है। यहाँ फेक-फेक कर पैर रखना चाहिए। कब क्या हो सकता है, यह कोई नहीं कह सकता।"

मेरा मित्र एक दीर्घ-निवास छोड़ कर मुझसे बोला—"तुम कहानी-लेखक हो, परन्तु एक साधारण परिहास के कारण एक मनुष्य का इस प्रकार सर्वनाश हो सकता है, यह तुम भी न सोच पाये होगे।"

मैंके कहा—"ठीक कहते हो। मैं यह कभी न सोच पाता। इसलिये तो कहा जाता है कि सत्य घटनाएँ कहानियों से अधिक विचित्र होती हैं। आजकल कुच कूपमंक जो अपने अनुभव और अपनी देखी सुनी बातों के अतिरिक्त जब कोई अद्भुत तथा विचित्र बात सुनते हैं तो फट

कह देते हैं—यह तो अस्वाभाविक है! ऐसा तो कभी होता नहीं। वे यदि सत्य घटनाओं की विचित्रता देख पावें तो उन्हें पता लगे कि संसार में क्या-क्या हो सकता है और होता है।"

(३)

संन्यासी नवयुवक की ओर मुँह करके बोला—"बच्चा, तुम अभी नासमझ हो! तुम जिसे ठीक समझते हो, वह बिलकुल गलत भी हो सकता है। तुम जिसे छोटी बात समझते हो, वह बड़ा विकराल रूप भी धारण कर सकती है। इसलिये जो तुम्हारे पिता कहते हैं उसे सुनो और समझो। इनका अनुभव तुमसे कहीं बढ़ा-चढ़ा है। ये जो कहेंगे उसके अनुसार चलने से तुम्हें लाभ ही होगा, हानि नहीं। जाओ! ईश्वर तुम्हें सुबुद्धि दे!"

वे दोनों प्रणाम करके चले गये। मेरी उत्सुकता अभी शान्त नहीं हुई थी। मैंने संन्यासी से पूछा—"उस व्यक्ति का क्या हुआ?"

संन्यासी कुछ क्षणों तक सिर झुकाये बैठा रहा तत्पश्चात सिर उठा कर बोला—"उसने नौकरी छोड़ दी, संन्यासी हो गया और इस समय आप लोगों के सामने बैठा है।"

मैं अचकचा कर बोला—"तो यह आप ही पर बीती हुई घटना है?"

"हाँ, मुझ पर ही बीती है। पारसाल इन्हीं दिनों में एक सुखी गृहस्थ था और आज संन्यासी हूँ। कल क्या होगा यह मैं नहीं कह सकता; क्योंकि यद्यपि मैं संन्यासी हो गया हूं; पर हृदय में शान्ति नहीं है। हृदय में एक भट्टी सी जल रही है और पिछली स्मृतियाँ उस भट्टी में ईंधन का काम कर के उसे प्रज्ज्वलित किये हुए हैं। मैंने दुःख के आवेश में बिना सोचे-समझे संन्यास तो ले लिया; पर इस का निर्वाह

कर सकूँगा या नहीं—इसमें सन्देह है। हृदय की ज्वाला शान्त हो तब कुछ कहा जा सकता है। भगवान् जाने यह कब और कैसे शान्त होगी। मेरी स्वयं यह दशा है, और लोग मेरे पास अपनी दुःख-गाथा लेकर आते हैं और मुझ से वे आशा रखते हैं कि मैं उनका दुःख दूर कर सकता हुँ, उनकी मनोकामना पूर्ण कर सकता हूँ। दुर्भाग्य के इस व्यंग्य को देख कर कभी-कभी मैं पागल-सा हो जाता हूँ और यही इच्छा होती है कि आत्महत्या कर लूँ।"

हम लोगों को उस पर बड़ा तरस आया। हम जिसे महात्मा या ढोंगी के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझ रहे थे वह क्या निकला। एक महादुखी और हतभाग्य प्राणी जो अपने दुर्भाग्य तथा अपनी आन्तरिक ज्वाला को गेरुये वस्त्रों में इस प्रकार छिपाये घूम रहा है कि लोग उसके पास सुख और शान्ति प्राप्त करने की इच्छा से आते हैं। आह! संन्यासी ने ठीक ही कहा, दुर्भाग्य का यह व्यंग्य किसे सहन हो सकता है।

हम लोगों ने उसके प्रति बड़ी समवेदना और सहानुभूति प्रकट की और यह कह कर कि—"हमारे योग्य कोई सेवा हो तो बताइयेगा" चले आये।

तीसरे दिन जब हम लोग फिर उससे मिलने गये तो वह वहाँ नहीं था। गंगापुत्र ने वताया कि वह आज सबेरे चला गया।

*   *   *

एक वर्ष पश्चात् मैं ट्रेन में सफर कर रहा था। एक स्टेशन पर एक कोट-पेन्ट धारी जन्टिलमैन मेरे कम्पार्टमेण्ट में आया। उसके हाथ में एक ऐटेची केस था। कुली ने उसका सामान मेरे ही बर्थ के ऊपरवाले वर्थ पर रख दिया! कुली को पैसे देकर वह रूमाल से मुँह पोंछता हुआ मेरे सामने बैठ गया। सहसा मैं चौंक पड़ा। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मैंने उसे कहीं देखा है। मैं उसे ध्यानपूर्वक देखने लगा। मुझे अपनी ओर ताकते देख कर उसने भी मुझे गौर से देखा और देख कर बोला—"

"ओहो ! आप हैं ! कहिए सब आनन्द-मंगल !" अब मुझे भी याद आ गया। यह व्यक्ति वही संन्यासी था। मैं विस्मित होकर बोला "ए, आप ! यह क्या काया-पलट है ?"

उसने होठों पर उँगली रख कर मुझे चुप रहने का संकेत किया। मैं चुप हो गया। कुछ क्षणों तक चुप रहने के बाद वह वह मेरे पास खिसक आया और धीमे स्वर में बोला—"मैंने आप लोगों से कहा था कि जब तक मेरे हृदय की ज्वाला शान्त न हो जाय तब तक मैं यह नहीं कह सकता कि मैं अपने संन्यास का निर्वाह कर सकूँगा या नहीं। आप लोगों से उस दिन बातचीत होने पर मैं रात भर बेचैन रहा। मेरा जी वहाँ से उचाट हो गया। अतएव मैं दूसरे दिन सबेरे ही वहाँ से चल दिया। छः महीने तक इधर-उधर फिरता हुआ मैं एक गाँव में पहुँचा-क्योंकि शहरों से मेरा जी ऊब गया था। शहरों में या तो लोग मुझे महात्मा समझ कर मेरा आदर-सत्कार करते और मुझसे ऐसी बातों की आशा रखते थे जो मेरे फरिश्ते भी न कर सकें या फिर धूर्त्त और ढोंगी समझ कर तिरस्कार करते थे। इसलिए मैंने एक गाँव में डेरा डाला। वहाँ एक बुड्ढा मेरा बड़ा भक्त हो गया। उससे भी मैंने अपनी दुर्भाग्य-गाथा सब कह दी थी। वह मुझे अपने घर ले गया और उसने मुझे अपने ही पास रखा। उसके एक २०-२२ साल की कन्या थी, जिसका विवाह वह धनहीनता के कारण नहीं कर सका था। पहले-पहल वह मेरे पास यही पूछने आया था कि वह अपनी कन्या का विवाह कब कर सकेगा। मैंने उसे संतुष्ट करने के लिये कह दिया था कि एक साल के अन्दर ही हो जायगा। इससे वह मेरा बड़ा भक्त हो गया और मुझे अपने पास हठ करके ले गया—अन्यथा पहले मैं गाँव के बाहर एक टूटे-फूटे मन्दिर में पड़ा रहता था।

"कुछ दिन बुड्ढे के पास रहने पर मुझे ज्ञात हुआ कि जब मैं उसकी कन्या को देखता हूँ तो मुझे ऐसा मालूम होता है कि मेरे हृदय

की ज्वाला पर शीतल पानी की धार सी पड़ जाती है और कुछ क्षणों के लिये मेरे हृदय में ठंढक सी पड़ जाती है। वह कन्या बड़ी सुन्दर, भोली तथा सुशील थी। उसको देख कर नेत्र तथा हृदय दोनों को सुख मिलता था और मेरे उजड़े तथा अन्धकारमय संसार में वसंत-ऋतु के प्रभात का आभास सा मिलता था। क्रमशः उसने मुझे अपने प्रेमपाश में इस प्रकार जकड़ लिया कि मैं अपना पिछला सब दुःख भूल गया और मुझे यह मालूम होने लगा कि मेरे भावी जीवन की सफलता तथा असफलता इस कन्या पर ही निर्भर है।

"अन्त को एक दिन वह बुड्ढा अपने आप ही बोला—तुम्हारी उमर अभी सन्यास लेने की नही थी। तुमने दुःख और किंकर्तव्यविमूढ होकर बिना सोचे-बिचारे संन्यास ले लिया। मेरी समझ में तो तुमने यह अच्छा नहीं किया। अभी समय हैं। तुम फिर संसार में प्रविष्ट हो सकते हो।

"मैंने मानों प्राण पाये। मैंने बुड्ढे का हाथ पकड़ कर अधीरतापूर्ण स्वर में कहा—तुम मेरे सच्चे हितैषी हो, वह मैं भली भाँति जानता हूँ। मुझे सदैव के लिये पक्का संन्यासी अथवा एक सुखी गृहस्थ बना देना तुम्हारे ही हाथों में है, बोलो क्या कहते हो, क्या चाहते हो?"

—"मैं चाहता हुँ कि तुम संसार में सुखी रहो।" बुड्ढा बोला।

—"सच्ची भावना है?" मैंने पूछा!

—"बिलकुल सच्ची।"

"तो अपनी कन्या मुझे दे दो। संन्यासी को भिक्षा दे रहे हो, यह समझ कर दो, या एक अभागे का भाग्य पलट रहे हो, यह समझ कर दो। किसी भी तरह दो, मैं उसे अपनी अर्धांगिनी बनाने को तैयार हूँ। मेरे आहत हृदय के लिये यही मरहम है, मेरे हृदय की आग बुझाने के

लिए यही शीतल जल है। बोलो क्या कहते हो ? मेरे भाग्य का फैस
तुम्हारे ही हाथों में है।"

बुड्ढा कुछ क्षण मेरी ओर चकित नेत्रों से ताकता रहा तत्पश्च
मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए बोला—"यदि मेरी कन्या एक व्यथित त
भटकती हुई आत्मा को सुख-शांति दे सकती है तो इससे बढ़ कर उस
उपयोग और क्या हो सकता है। परमात्मा ने तुम्हारे लिए ही उसे
तक कुँवारी रखा। जाओ मैंने उसको तुम्हें सौंपा। परमात्मा तुम दो
को सुखी करे।"

उसी दिन मैंने अपना संन्यासी-वेष त्याग दिया और बाद को व
उस कन्या से विवाह कर लिया। अब आज-कल मैं····मैं रहता हूँ अ
बीमे का काम करता हूँ जिससे मुझे अच्छी आमदनी हो जाती है।"

मैंने चकित होकर कहा—"ओफ ! यह संसार बड़ा विचित्र
खैर आप सुखी हुये, यह जान कर मुझे सन्तोष और प्रसन्नता हु
पिछली बातें तो याद नहीं आतीं ?"

—"याद आती हैं, पर उनसे पीड़ा होना बन्द हो गया। अब
केवल एक भयानक स्वप्न की धुँधली स्मृति सी रह गयी है।"

मैंने कहा—"इस संसार में कुछ भी असंभव नहीं है, सबकुछ
सकता है।"

वह हँस कर बोला—"आप ठीक कहते हैं। कौन कह सकता
कि मैं फिर भी कभी गृहस्थ बन कर सुखी हो सकूँगा, परन्तु यह भ
का चक्कर जो चाहे करावे।"

लोकापवाद

—"छुट्टी कहाँ थी, अभी तो आफिस से आया हूँ।"

—"वसन्त पंचमी की छुटटी नहीं ! यह क्या बात ? यह तो गजेटेड हाली डे है ?"

—"छुट्टी तो थी, पर काम ज्यादा था। साहब ने कहा था कि आ जाना ! आप जानिए खुशामदी लोगों की कमी नहीं है। बहुतों ने स्वीकार कर लिया, तब हमें भी स्वीकार करना पड़ा। हमारे दफ्तर का हिसाब बहुत बिगड़ गया है, बाबू ! एका नहीं है। हर शख्स यह चाहता है कि साहब को खुश करके अपना मतलब गाँठे। कोई कायदा-कानून नहीं। साहब का हुक्म ही कायदा-कानून है। लोग खुशामद के मारे छुट्टी के दिनों में काम करने पहुँच जाते हैं। जो नहीं जाता वह साहब का कोप-भाजन बन जाता है।" इतना कहकर आगन्तुक हुक्का सटकाने लगा। बाबू गिरिजाशंकर बोले—"कभी ईसाई छुटी में साहब भी काम करने आता है ?"

—"कभी नहीं ! ईस्टर, बड़ा दिन तथा और भी जो ईसाई त्योहारों की छुट्टियाँ होती हैं, उन छुट्टियों में साहव खुद कभी नहीं आता, पर हमारे हिन्दुस्तानी भाई अपने त्योहारों की छुट्टी में भी आते हैं।"

—"यही मैं भी समझा था। साहब अपनी छुट्टी में कभी नहीं चूक सकता।"

इसी समय एक १३–१४ वर्ष का लड़का हाथ में एक पोटली लिए हुए आया और आगन्तुक की ओर हाथ बढ़ाकर बोला—"ले बाबू, यह दो पैसे बचे हैं।"

आगन्तुक ने पैसे लेते हुए पूछा—"क्या क्या लाया ?"

लड़का बोला—"चार पैसे का शलजम, दो पैसे के आलू, दो पैसे का प्याज !"

—"शलजम क्यों लाया, गोभी क्यों नहीं लाया ? मैंने गोभी लाने

को कहा था ।"

—"माँजी ने मना कर दिया था ।"

—"क्या कहा था ? आगन्तुक ने भौं सिकोड़ कर पूछा ।"

—"कहा था कि गोभी न लाना शलजम लाना ।"

—"हूँ" कह कर नवागन्तुक चुप हो गया। लड़का चला गया। नवागन्तुक के माथे पर बल पड़े थे और वह जल्दी-जल्दी हुक्के का कश खींच रहा था । गिरिजाशंकर बाबू बोले—"तुम्हारा नौकर, यह लड़का बड़ा चन्ट है ।"

—"अव्वल दर्जे का पाजी हैं । मेरा कहना कभी नहीं करेगा, जब करेगा माँजी का कहना करेगा । मैं कह आया था कि गोभी लाना, शलजम मुझे अच्छी नहीं लगती, पर गोभी नही लाया, शलजम ही लाया—माँजी ने जो कहा सो लाया ।"

—"क्यों भाई श्यामाचरण, मैं बहुधा यह देखता हूँ कि घर में तुम्हारी बहुत कम चलती है—बुरा न मानना ।"

—"घर ! घर नहीं नरक । इसीलिए तो मैं और भी छुट्टियों में आफिस चला जाता हूँ । सच्ची बातें आप से आज बता रहा हूँ । अभी आफिस से आया, कपड़े उतारे हुक्का भरवाया और सीधा यहाँ चला आया, घर में एक मिनट नहीं बैठा । घर, घर हो तो बैठने को जी चाहे ।"

—"आखिर ऐसा क्यों है ?"

—"भाग्य ! और क्या कहूँ !"

—"तुम घर के स्वामी हो, तुम्हारी पहले मानी जानी चाहिए ।"

—"मैं घर का स्वामी ! राम का नाम लो बाबू ! घर की स्वामिनी के आगे स्वामी की कोई हस्ती नहीं । मैं तो खालीं रुपया कमाने की मशीन हूँ, बस !"

—"यह बेजा बात है।"

—"हमारी पत्नी महारानी बड़े घर की बेटी हैं। हर बात में अपना ही हुक्म चलाती हैं। मैं आम कहूँगा, तो वे इमली कहेंगी। मैं जो कपड़ा पसन्द करूँगा, वह उनके पसन्द कभी न आवेगा। मुझे कपड़ा पहचानने की तमीज़ ही नहीं। मैं तो जो चीज खरीद कर लाऊँगा, उसमें सदा कोई ऐब निकल आवेगा। पत्नी महारानी जो कुछ करें उसमें ब्रह्मा के पिता भी कोई दोष नहीं निकाल सकते। मैं हर महीने तनख्वाह ले आता हूँ, इतना काम तो ठीक करता हूँ—बाकी सब गलत ! तनख्वाह लाने के अतिरिक्त और मुझे कुछ आता नहीं।"

इतना कह कर श्यामाचरण हुक्का गुड़गुड़ाने लगा। गिरिजाशंकर हँसने लगे। हुक्का गुड़-गुड़ा कर श्यामाचरण पुनः बोला—"आप के लिये यह हँसने की बात है, आप हँस सकते हैं; पर मेरे हृदय पर जो बीतती है वह परमात्मा ही जानता है।"

गिरजाशंकर अपने हँसते हुये मुख को बलपूर्वक गम्भीर बना कर बोले—"निस्सन्देह यह बड़े दुःख की बात है। तुम्ही ऐसे हो जो सहन करते हो। मैं तो कभी न सहन करूँ।"

"सहन न करूँ तो क्या करूँ, बाबू ? शान्तिप्रिय आदमी ठहरा। कलह से जी घबराता है। घर में जब कलह होती है तो कहीं भाग जाने की इच्छा होने लगती है। इस कारण अपना मन मारना पड़ता है—इससे शान्ति तो रहती है।"

—"ऐसी शान्ति किस काम की।"

—"दोनों समय पका-पकाया भोजन मिल जाता है, रात को आराम से पैर फैला कर सोता हूँ—बस यही शान्ति है।"

—"तब फिर घर को नरक क्यों बता रहे थे ?" जहाँ शान्ति मिले वह नरक कैसे हो सकता है।"

—"हमारे जैसे प्राणी नरक में भी शान्ति ढूंढ लेते हैं।"

—"ठीक ! तब फिर शिकायत करना व्यर्थ है।"

—"बात उठती है तो वास्तविक दशा बतानी पड़ती है। परन्तु एक बात बताता हूं ! बाबू, किसी दिन सुन लोगे कि श्यामाचरण घर छोड़ कर चला गया।"

—"अरे, ऐसा न करना।"

—"मैं थोड़े ही करूंगा। मुझे ऐसा करना होता तो अब तक कभी कर डालता—परिस्थिति करावेगी। मैं तो बहुत सहन करता हूँ और यथा शक्ति करता रहूंगा, परन्तु हर बात की एक सीमा होती है"

गिरिजाशंकर बाबू मौन होकर कुछ सोचने लगे। थोड़ी देर हुक्का पीने के पश्चात श्यामाचरण बोला—"अब जाता हूं—शौच-बोच से निवृत्त होना है।"

—"भोजन करके तो आओगे ?"

—"हां, अवश्य ! और ठिकाना ही कहाँ है।"

श्यामाचरण की पत्नी श्यामाचरण से यद्यपि तीन वर्ष छोटी थी' परन्तु उसके मुख पर प्रौढ़ता का भाव आवश्यकता से अधिक था। श्यामाचरण इकहरे बदन का था वह दोहरे बदन की। यद्यपि वह कुरूपा नहीं थी; परन्तु मुख पर अत्यधिक प्रौढ़ता के साथ-साथ कर्कशता भी आ गयी थी। इस कारण उसकी मुखाकृति में कुछ पुरुषत्व आ गया था।

श्यामाचरण घर पहुँच कर पहले शौच से निवृत्त हुए। उनकी पत्नी रसोई बना रही थी। हाथ-मुँह धोकर वह टहलते हुए रसोई की ओर गये।

"भोजन तैयार है ?" श्यामाचरण ने प्रश्न किया।

—"हाँ, तैयार है !" पत्नी ने उत्तर दिया।

—"साग क्या बना है ?"

—"आलू प्याज और शलजम।"

—"मैंने तो गोभी मँगाई थी।"

—"मैंने मना कर दिया था।"

—"क्यों?"

—"क्यों क्या? गोभी शलजम से अधिक अच्छी होती है?"

—"पर मुझे तो शलजम अच्छी नहीं लगती।"

—"अच्छी चीजें तुम्हें कब अच्छी लगती हैं।"

—"तो मुझे सब खराब चीजें ही अच्छी लगती हैं।"

—"अब रार तो बढ़ाओ न, खाना हो तो चुपचाप बैठ कर खालो।

—"और जो न खाऊँ?"

—"तुम्हारी इच्छा। जान पड़ता है भूख नहीं है। तभी इतने नखरे कर रहे हो।"

—"क्यों? खाया क्या है?"

—"अब यह तो तुम्हीं जानो। भूखा आदमी इतनी मीन-मेख नहीं निकालता। जो कुछ मिले चुपचाप खा लेता है।"

—"तो तुम्हारे हिसाब से भूखा आदमी अपने मन का भोजन पाने का अधिकारी ही नही।"

—"तुम्हें तो झख सवार है। त्योहार के दिन लड़ाई करना चाहते हो।"

श्यामाचरण को यह ध्यान नहीं था कि आज बसन्तपंचमी है। यह ध्यान आते ही उन्होंने सोचा—जाने भी दो आज क्यों कलह उत्पन्न करते हो।" यह सोचकर चुपचाप भोजन करने बैठ गये।

दो-तीन ग्रास खाकर श्यामाचरण बोले— "आलू प्याज में मिर्च अधिक हैं।"

—"मिर्च का तो स्वाद ही है। बिना मिर्च-खटाई के प्याज मीठा-मीठा लगता है।"

—"तो इतनी मिर्च ?"

—"इतनी क्या पसेरी भर हैं ?"

—"इतनी भी ज्यादा हैं।"

"हाँ, आज तो तुम्हें सब में कुछ न कुछ ऐब ही दिखाई पड़ेगा— गो ी नहीं बनी हैं न।"

—"अरे ! तो क्या मैं झूठ कह रहा हूँ या जबरदस्ती ऐब निकाल रह हूँ ?"

—"न सही। अब तो जैसा बनना था बन चुका। चाहे मिर्चें अधिक हों ाहे नमक।"

श्यामाचरण ने पानी के सहारे ग्रास गले से उतार-उतार कर आधे पेट भोजन किया।

—"आज त्योहार का दिन था—कोई मीठी चीज—हलुवा या खीर बना लेतीं।"

—"तो यह कहो मीठा खाने की इच्छा थी, मिर्चो का तो बहाना था।" पत्नी ने व्यंग्य से मुस्कराकर कहा।

श्यामाचरण को यह व्यंग्य बहुत ही बुरा लगा। रक्त में उत्तेजना उत न्न हुई; परन्तु त्योहार का दिन है इस विचार से लहू का घूँट जैसा पीव र बोले—"मीठा खाने की इच्छा होना कोई बुरी बात है, क्या ?"

—"बुरी बात तो नहीं है, पर चटोरपन तो है।"

—"कभी-कभी खाना भी चटोरपन है ?"

पत्नी ने इसका कोई उत्तर न दिया।

श्यामाचरण ने अपने को अपमानित अनुभव किया। यद्यपि वे चुप-चाप उठ आये; पर पत्नी के प्रति उनके हृदय में घृणा-भाव के अतिरिक्त औ कुछ नहीं था।

(३)

श्यामाचरण ने अपना हुक्का भरवाया और उसे हाथ में लेकर गिर-

जाशंकर के यहाँ जाने को तैयार हुए। इसी समय एक व्यक्ति ने द्वार
से आवाज दी। श्यामाचरण बाहर निकल आये। आगन्तुक ने उ
देखते ही कहा—"बाबूजी, आपको सरजू की माँ ने बुलाया है।"

—"क्यों ?"

"मालूम नहीं। मुझ से तो इतना ही कहा कि बाबू को भेज देन
सरजू कुछ बीमार है शायद !"

इतना कह कर वह चला गया।

श्यामाचरण ने जल्दी-जल्दी हुक्के के दस बारह कश लिए। त
पश्चात् कपड़े पहन कर चल दिये। नौकर से कह दिया—"पूछें तो व
देना एक काम से गये हैं।"

अयोध्याप्रसाद, सरजू का पिता, श्यामाचरण के दफ्तर में क
करता था। एक वर्ष हुआ उसकी मृत्यु हो गयी थी। मरते समय
श्यामाचरण से कह गया था—"मेरे बाल-बच्चों का ध्यान रखना।
अतएव श्यामाचरण महीने में एकाध बार उनकी खोज-खबर
लेते थे।

श्यामाचरण अयोध्याप्रसाद से मकान पर पहुँचे। अयोध्याप्रसा
की पत्नी को देखते ही उन्होंने पूछा—"क्यों, सरजू कैसा है ?"

—"अच्छा है, सो गया है।"

अयोध्याप्रसाद की पत्नी की वयस पच्चीस वर्ष के लगभग थी
गेहुँआ रंग, दोहरा बदन, नख शिख साधारणतः सुन्दर। आँखें बड़
बड़ी तथा करुणापूर्ण।

श्यामाचरण बोले—'वह आदमी, जो बुलाने गया था, कहता
कि सरजू की तबीयत खराब है।"

—"नहीं, ऐसी कुछ खराब नहीं है, ऐसे ही जरा जुकाम हो गय

है। उस आदमी ने यों ही कह दिया होगा। आज सरजू आया नहीं, न जाने कहाँ रह गया, इसी से दूसरा आदमी भेजना पड़ा। आज त्योहार ा दिन था—चीज-वस्तु मंगाने में ऐसी दिक्कत हुई कि क्या कहूँ। लड़का बड़ा खिलाड़ी है। क्या करें सिर्फ चार रुपये महीना देना पड़ता है, इससे उसे रखे हूँ। आदमी नौकर रखूँ तो दस-बारह रुपये से कम नहीं लेगा। इतना देने को कहाँ पाऊँ। मकान का कुल पचीस रुपये किराया आता है—उसी में सारा खर्च चला चाहे।,'

इतना कह कर सरजू की माता ने दीर्घ विश्वास छोड़ी।

श्यामाचरण बोले—"देखो कोई दूसरा लड़का मिलेगा तो भेजूगा"

—"हाँ, पर जरा काम करने वाला हो, खिलाड़ी न हो।"

—"हाँ! हाँ! ऐसा ही तजवीज करूँगा।" अच्छा मुझे बुलाया क्यों?"

सरजू की माता किंचित मुस्करा कर लजाते हुए बोली—"आज त्योहार का दिन था—"खाने-वाने को बनाया था। कुछ थोड़ा खा लीजिए।"

—"खाना तो मैं खा चुका हूँ। अभी-अभी खाकर उठा ही था कि तुम्हारा भेजा हुआ आदमी पहुँचा।"

सरजू की माँ का मुख उदास हो गया। दुखी स्वर से बोली—"क्या बताऊँ! मैं तो सुबह ही कहला भेजती कि आज भोजन यहीं करना, पर कोई आदमी नहीं था। तड़प तड़प कर रह गयी। इस समय वह किरायेदार किराया देने आया था—तब उसीको भेजा। क्या कहूँ ऐसा पछतावा है कि मैं ही जानती हूँ!"

श्यामाचरण ने पूछा—"क्या-क्या बनाया है?"

—"पूरी, कचौरी, आलू-गोभी, जमीकन्द, पालक है—मटर पड़ी

हुई, पापड़, रायता, चटनी, हलुवा— बस यही चीजें हैं। जो-जो चीजें आपको पसन्द हैं वही बनायी हैं।' यद्यपि श्यामाचरण भोजन कर चुके थे पर खाया था उन्होंने आधे ही पेट; क्योंकि रुचि का भोजन नहीं था। अतएव इस समय अपनी रुचि की चीजों का नाम सुन कर उनके मुँह में पानी भर आया। उन्होंने कहा—"खैर तुम्हारी मेहनत बेकार नहीं जाने दूँगा। लाओ, पर थोड़ा ही थोड़ा लाना।"

सरजू की माँ का मुख खिल उठा, वह शीघ्रतापूर्वक थाली परोसने चली गयी।

इधर श्यामाचरण सोचने लगे—"एक ऐसी स्त्री जिसकी मैं महीनों में एकाध बार-खबर लेता हूँ—उसे मेरी रुचि का इतना ध्यान, और मेरी पत्नी, जिसका मैं भरण-पोषण करता हूँ, जिसके लिए मैं अपने प्राण तक दे सकता हूँ उसे मेरी कुछ भी परवा नहीं।"

सरजू की माँ थाली परोस कर लायी। श्यामाचरण ने भोजन करना आरम्भ किया। सरजू की माँ सामने बैठ गयी।

कुछ क्षणों तक मौन रह कर वह बोली—"उनके मरने के बाद यह पहला त्योहार मनाया गया है। बर्सी हुए बिना कोई त्योहार नहीं मनाया जाता। आज आप न खाते मुझे बड़ा कलंक होता।"

श्यामाचरण सरजू की माता का मुँह देख रहे थे। सरजू की माता के मुख पर हार्दिक प्रसन्नता थी। श्यामाचरण को वह बड़ी सुन्दर दिखायी पड़ रही थी। श्यामाचरण ने मन ही मन सोचा—"यदि यह मेरी पत्नी होती तो मेरा संसार स्वर्गतुल्य होता।"

यह पहला अवसर था जब श्यामाचरण के हृदय में उपर्युक्त विचार उत्पन्न हुआ।

भोजन से निवृत्त होकर श्यामाचरण ने पान खाया। सरजू की माँ ने सिगरेट की डिब्बी दी। श्यामाचरण अक-चका कर बोले—"सिगरेट भी मँगाली!"

—"हाँ ! आप पीते हैं इसलिये मँगायी।" सरजू की माँ ने कहा।

श्यामाचरण मुग्ध हो गये। सिगरेट सुलगाते हुए सोचने लगे—"ऐसी स्त्री और विधवा ! तिस पर लोग ईश्वर को दयालु कहते हैं।"

थोड़ी देर पश्चात् श्यामाचरण बिदा हुए। रास्ते भर उनकी आँखों के सामने सरजू की माता की मूर्ति फिरती रही और उनके कानों में ये शब्द गूँजते रहे—"जो-जो चीजें आपको पसन्द हैं वही बनायी हैं।" घर पहुंचे तो पत्नी ने प्रश्न किया—"कहाँ गये थे ?"

श्यामाचरण ने गम्भीरता पूर्वक उत्तर दिया—"स्वर्ग की सैर करने !"

पत्नी के माथे की स्थायी रेखाएँ अधिक गहरी हो गयीं। उसने पूछा—"फिर लौट कैसे आये ?"

—"नरक के प्राणियों को वहाँ रहने की आज्ञा नहीं हैं।"

—"तो फिर नरक ही में चले जाते !"

—"इस घर के अतिरिक्त भी कोई और नरक है क्या ?"

—"यह नरक है तो तुम्हीं इस नरक में रहो। मैं कल ही अपने मायके चली जाऊँगी।"

श्यामाचरण ने कोई उत्तर न दिया।

(४)

श्यामाचरण की पत्नी अपने मायके चली गयी। श्यामाचरण ने भी उसे रोकने का प्रयत्न नहीं किया। उसने सोचा—"अच्छा है ! कुछ दिनों अलग रहने से शायद मिजाज दुरुस्त हो जाय !"

श्यामाचरण का साला जो उनकी पत्नी के बुलाने पर उसे ले जाने के लिए आया था, उनसे सीधे मुँह नहीं बोला।

पत्नी के चले जाने पर दो-तीन दिन तो श्यामाचरण को बड़ी शान्ति सी मिली; परन्तु फिर क्रमशः उनकी तबीयत घबराने लगी।

उन्हें पता लगा कि जो घर पत्नी की उपस्थिति में नरक-तुल्य था वह पत्नी के चले जाने पर भी स्वर्ग नहीं हुआ। उन्हें मालूम होता कि वे निर्जन वन में पड़े हैं और बिल्कुल अकेले हैं। उन्हें अपनी दशा पर स्वयं ही तरस आता था और एक बार वे दयनीय तथा दयालु, दोनों की अनुभूति में इतने मग्न हो गये कि बड़ी देर तक पड़े रोते रहे। जब मनुष्य को किसी वस्तु का भाव तथा अभाव दोनों ही कष्टप्रद प्रतीत होने लगते हैं तब वह विह्वल हो जाता हैं।

उस दिन, पत्नी के मायके जाने के पश्चात, पहला इतवार था। श्यामाचरण ने सबेरे उठकर पहले तो यह निश्चित किया कि आज बढ़िया भोजन बनायेंगे। परन्तु फिर आलस्य के कारण विचार बदल गया। उन्होंने सोचा— आज सरजू के घर क्यों न चलें। वहाँ भोजन भी हो, दोपहर को आराम भी वहीं करें। इस प्रकार भोजन बनाने की झंझट से भी बच जायेंगे और दिन भी कट जायगा। यह सोचकर लड़के द्वारा सरजू की माँ के पास सन्देश भेज दिया। इसके पश्चात उन्होंने स्नान किया, तेल-फुलेल लगाया, कपड़े बदले और तैयार होकर सरजू के घर की ओर प्रस्थान किया। उस समय नौ बजे थे। गिरिजाशंकरबाबू अपनी बैठक के द्वार पर खड़े थे। श्यामाचरण को देखकर उन्होंने पूछा "कहाँ की तैयारी है?"

श्यामाचरण खड़े हो गये और बोले—"जरा अयोध्याप्रसाद की ओर जा रहा हूँ—बहुत दिनों से गया नहीं। खाना भी वही खा लूँगा। अपने हाथ से बनाते आलस्य लगता है।"

—"और उतना स्वादिष्ट भी तो नहीं बनेगा जितना अयोध्याप्रसाद की पत्नी बनावेगी।" बाबू गिरिजाशंकर ने रहस्यपूर्ण ढंग से मुस्करा कर कहा।

श्यामाचरण ने गिरिजाशंकर की मुस्कराहट का मतलब समझने का प्रयत्न करते हुए, कुछ गम्भीरतापूर्वक कहा—"हाँ, यह ठीक है।

स्त्रियों के बनाये हुए खाने में स्वाद अवश्य आता है, पर वह इसलिए नहीं कि वह स्त्रियों का बनाया हुआ होता है, वरन इसलिए कि वह उस व्यक्ति का बनाया हुआ होता है जिसे बनाने का अभ्यास है। यदि मुझे भी बनाने का अभ्यास होता तो मैं भी सुस्वाद भोजन बना सकता।

गिरिजाशंकर श्यामाचरण के व्याख्यान पर ध्यान न देकर बोले—"जब बनानेवाला अपने मन का होता है तब खाना भी सुस्वाद बन ही जाता है। कब तक लौटोगे ?"

—"शाम तक लौटूँगा—दोपहर को वहीं आराम कर लूँगा।"

—"ठीक है! पत्नी के अभाव में मन बहलाने का कुछ सामान तो होना ही चाहिए।"

श्यामाचरण चौंक पड़े। उन्होंने गिरिजाशंकर पर तीव्र दृष्टि डाल कर कहा—"इसका क्या मतलब ?"

—"मतलब तुम खूब समझते हो उस्ताद! यह देखो! ये बाल मैंने धूप में सफेद नहीं किये।" अपने सिर के श्वेत बालों की ओर उँगली उठाकर गिरिजाशंकर बोले।

—"इतनी जल्दी किसी के संबंध में कोई निश्चित धारणा बना लेने की आपकी जल्दबाजी देखने से तो यही मालूम होता है कि आपने बाल सफेद करने के लिए धूप में बैठने का कष्ट भी न उठाया होगा। चूल्हे में सिर घुसेड़ कर तुरन्त ही बाल सफेद कर लिये होंगे।"

—"हो सकता है कि तुम्हारा ही खयाल ठीक हो, परन्तु केवल मेरी ही ऐसी धारणा नहीं है। और लोग भी कुछ ऐसा ही सोचते हैं। तुम संसार को जितना बेवकूफ समझते हो या बनाना चाहते हो उतना वह न है और न बन सकता है।"

—"संसार सदैव बेवकूफ रहा है और रहेगा—सुना गिरिजाशंकर बाबू? संसार ने वास्तविकता को बहुत कम पाया है अधिकतर वह भ्रांतियों का ही गुलाम रहा है।"

—"ठीक कहते हो ! संसार जिसे रक्षक समझता है वही भक्षक निकल जाता है, यही भ्रांति है।" गिरिजाशंकर व्यंग्यपूर्वक बोले।

—"नहीं, यह भ्रांति नही है। जब रक्षक भक्षक प्रमाणित हो गया तब भ्रांति कहाँ ? संसार यह नहीं सोचता कि जिसे वह भक्षक समझ रहा है सम्भव है वही रक्षक निकल जाय—भ्रांति वास्तव में यह है।"

गिरिजाशंकर "हो ! हो !" करके हँस पड़े और बोले—"भई तुम्हारी फिलासफी विचित्र है। अच्छा जाओ। वहाँ प्रतीक्षा हो रही होगी। हमारी ओर से कोई शंका न करना।"

श्यामाचरण कुछ क्षणों तक खड़े सोचते रहे ! तत्पश्चात अपने आप यह कह कर—"उह ! जब कर नहीं तो डर काहे का।" चल दिये।

सरजू की माता ने श्यामाचरण का स्वागत किया। श्यामाचरण ने भोजन किया। भोजन कर के तृप्त हुए क्योंकि भोजन उनकी रुचि का तथा सुस्वाद था।

भोजन करने के पश्चात बोले—"अब दोपहर को कौन घर जाय यहीं पर रहूँगा।"

सरजू की माँ ने इसका कुछ उत्तर न दिया, उसके मुख पर चिंता की भावना उदय हुई। यह देखकर श्यामाचरण का कलेजा धड़कने लगा। उन्होंने पूछा—"क्यों यहाँ रहने में कोई हर्ज है क्या ?"

सरजू की माता शीघ्रतापूर्वक बोली—"नहीं मेरा तो कोई हर्ज नहीं है। मुझे तो प्रसन्नता होगी परन्तु....... ।"

—"हाँ-हाँ-परन्तु क्या शीघ्र कहो ?"

सरजू की माता आँखों में आँसू भर के बोली—"क्या कहूं आप मुझे बड़ा नीच समझेंगे। आपने हमारे साथ जो उपकार किया है और कर रहे हैं उसका बदला मैं सात जन्म में भी नहीं चुका सकूँगी; पर आप जानें, संसार की जीभ कौन पकड़ सकता है।"

श्यामाचरण जल्दी से बोल उठे—"हाँ! हाँ! मैं तुम्हारा मतलब समझ गया! वाकई तुम्हारा खयाल ठीक है। मेरी गलती थी। मैं जाता हूँ। अब कभी न आऊँगा।"

—"नहीं! नहीं! मेरा मतलब यह नहीं है कि बिलकुल ही न आवें। सरजू की माँ व्याकुल होकर बोली।

—"नहीं! नहीं! आने की जरूरत ही क्या है। अब नहीं आऊँगा! अब नहीं आऊँगा!" इतना कहकर श्यामाचरण पागल की भाँति वहाँ से भागे।

उस दिन से फिर श्यामाप्रसाद का पता न लगा कि कहाँ गये। गिरिजाशंकर बाबू प्रसङ्ग आने पर सिर हिला हिला कर कहा करते—"मैं तो पहले से ही जान गया था कि परिणाम खराब होगा। आजकल वह जमाना है कि अपनों को तो कोई पूछता ही नहीं गैर की कौन कहे। श्यामाचरण अयोध्याप्रसाद की विधवा की जो इतनी खोज-खबर रखते थे तो क्यों रखते थे? उनका कोई स्वार्थ तो अवश्य था। उसी के कारण पत्नी से लड़ा करते थे। आखिर उसे निकाल ही दिया—उसकी इच्छा के विरुद्ध मायके भेजा—इसे मैं निकालना ही समझता हूँ। इतवार को भोजन भी वहीं होता था, दोपहर भी वहीं व्यतीत होती थी।"

गिरिजाशंकर की बात सुनकर श्रोता लोग बड़ी गंभीरता से सिर हिला कर कहते—"आजकल जमाना ऐसा ही हैं। आदमी कहता कुछ है करता कुछ।"

"कहिए मिस्टर हेनपेक्ड ! कैसे मिजाज हैं ?"

थाना-इन्चार्ज ठाकुर नर्मदाप्रसादसिंह थाने के आँगन में बैठे हुए ग्रीष्मकालीन संध्या की मन्द समीर का आनन्द ले रहे थे। उनके पास ही उनके नायब मिर्जा अखतरहुसैन बैठे हुए थे। इसी समय दो सूट-बूट धारी व्यक्तियों ने थाने में प्रवेश किया। उनमें से एक ने इन्चार्ज साहब के सन्मुख पहुँच कर मुस्कराते हुए उपर्युक्त वाक्य कहा। मिर्जा साहब ने दोनों व्यक्तियों को सलाम किया। दोनों कुर्सियों पर बैठ गये। जिसने नर्मदाप्रसाद को "हेनपेक्ड" कहा था, वह मिर्जा साहब की तरफ देख कर बोला—"कहिए मिर्जाजी, कैसे मिजाज हैं ?"

—"खुदा का फजल है—हुजूर के मिजाज ?" मिर्जाजी ने शिष्टता-पूर्वक कहा।

—"आपकी नवाजिश है !" उसने उत्तर दिया। मिर्जाजी से बात कर के वह नर्मदाप्रसाद की तरफ घूमा और बोला—"कहिए, क्या हाल चाल हैं ?"

—"हम तो हेनपेक्ड हैं, हमारे हालचाल क्या पूछते हो ?" नर्मदा-प्रसादसिंह ने मुस्कराते हुए कहा।

—"ओ ! ठीक कहते हो। आपके हालचाल आपकी श्रीमतीजी से पूछना चाहिए। खैर मैं अपने दोस्त पं० बेनीप्रसाद को आपसे इन्ट्रोडयूस करता हूँ। आप यहाँ नायब तहसीलदार होकर आये हैं।"

नर्मदाप्रसादसिंह ने बेनीप्रसाद से हाथ मिलाते हुए कहा—"आपसे मिल कर बड़ी खुशी हुई।"

बेनीप्रसाद बोले—"पेशकार साहब ने आपकी बहुत तारीफ की, इससे मुझे आपसे मिलने की बड़ी इच्छा उत्पन्न हुई।"

—"आपकी बड़ी कृपा हुई। इनकी तारीफ तो आप देख ही रहे हैं—आते ही "हेनपेक्ड" का खिताब दे डाला,

—"हेनपेक्ड का खिताब तो तुम्हारा बहुत पुराना हो गया है।" पेशकार साहब बोले।

—"वह पुराना हो गया है तो कोई नया खिताब दे डालिए।" नर्मदाप्रसादसिंह ने कहा।

—"पहले खिताब के योग्य कोई काम तो कीजिए। नायब साहब ! ठाकुर साहब बड़े अच्छे ऑफीसर हैं। चोर-बदमाश इनके नाम से थर्राते हैं। जिस थाने में जाते हैं उस हल्के में वारदातें बहुत कम हो जाती हैं। इसलिए आप बहुत नेकनाम हैं। और सब बातें ठीक हैं मगर आप में एक बड़ी सख्त कमजोरी है—जोरू से बहुत डरते हैं। इसीलिए इन्हें "हेनपेक्ड" का खिताब दिया गया है। और ताज्जुब यह है कि आप अपने इस खिताब से बहुत खुश हैं।"

—"तुमसे लड़ने लगूँ क्या ?" ठाकुर साहब बोले।

—"जब बात ठीक है तो लड़ कैसे सकते हो ?"

ठाकुर साहब मिर्जाजी से बोले—"मिर्जाजी, जरा नौकर से कह

दीजिए, आप लोगों के लिए शरबत, पान, सिगरेट, लावे।"

—"शरबत रहने दीजिए, प्यास नहीं है।"

—"गर्मियों में प्यास का क्या जिक्र !" मिर्जाजी बोले और उठ कर चले गये।

ठाकुर साहब नायब तहसीलदार से बोले—"हमारे पेशकार साहब बड़े जबरदस्त आदमी हैं। कप्तान साहब (सुपरिनटेन्डेन्ट पुलीस) के पेशकार हैं, इसलिए हम सब लोग इनसे डरते हैं—चाहे जो कहलें। इनको सब माफ है।"

—"अमा क्यों झूठ बोलते हो। डरते हैं! डरते तो आप केवल अपनी श्रीमती जी से हैं।"

बेनीप्रसाद मुस्कराकर बोले—"डरते हैं तो क्या हर्जा है, जोरू से डरना ही चाहिए।"

—"चलो, एक से दो हुए ! खुश हो जाओ, तुम्हारा पंथ बढ़ता ही जा रहा है।" पेशकार साहब हँसते हुए ठाकुर साहब से बोले। ठाकुर साहब प्रसंग बदलने के लिए बोले—"और क्या हाल चाल हैं ! सुना है कप्तान साहब छुट्टी पर जाने वाले हैं ?"

पेशकार साहब गम्भीर होकर बोले—"खबर ही खबर है, मगर चले जायँ तो कोई आश्चर्य भी नहीं। उन्हें गर्मी बहुत सता रही है। खस की टट्टियाँ और बिजली का पंखा है, तब यह दशा है।"

इसी प्रकार कुछ देर तक पुलीस महकमे की बातें होती रहीं। इसी समय नौकर एक तश्तरी में शरबत के तीन ग्लास रखे हुए लाया। तीनों व्यक्तियों ने एक-एक ग्लास ले लिया और पीने लगे।

शरबत पी चुकने के पश्चात् पान खाये और सिगरेट सुलगायी।

सिगरेट सुलगा कर पेशकार साहब बोले—"भाई, कप्तान साहब की पेशी से तो तबीयत ऊब गई। अब तो कोई थाना मिले तो काम चले।"

—"कौन सा थाना चाहते हो ?"

—"चाहे जो हो ।"

—"साधूपुर जाओगे ?"

—"हाँ-हाँ ! क्या हुआ ?"

—"जवाहरसिंह उसी इलाके में है ।"

जवाहरसिंह का नाम सुन कर पेशकार साहब कुछ बदले हुए स्वर में बोले—"तो क्या हर्ज है ?"

—"बड़ा विकट डाकू है ।"

—"हुआ करे । अपना दाव लगेगा तो छोड़ेंगे नहीं ।"

—"उसका दाँव लगेगा तो वह भी नहीं छोड़ेगा—और अधिकतर उसी का दाँव लगता है ।"

—"खैर जी, जो कुछ होगा देखा जायगा । पहले यहाँ से तो निकलें ।"

—"मुझे खबर लगी है कि कभी-कभी वह शहर आता है और इसी इलाके में कहीं ठहरता है । मैं उसकी फिक्र में हूँ । देखो, किसी दिन हत्थे चढ़ गया तो बच्चा को छठी का दूध याद आ जायगा ।"

—"अगर जवाहर को गिरफ्तार कर लो तो बड़े नाम हो जायँ ।"

—"देखो ईश्वर अधीन है । कोशिश में तो मैं बहुत हूँ ।"

—"परमात्मा तुम्हें सफलता दे । अच्छा अब आज्ञा दीजिए "

—"अजी बैठो ।"

—"बस अब चलेंगे । अभी एक जगह और जाना है ।।"

—"कहाँ ?"

—"जरा कोर्ट साहब से इनकी मुलाकात कराना है ।"

—"कोर्ट साहब से तो मुझे भी मिलना था ।"

—"तो चलो ।"

—"अब इस समय नहीं, कल किसी समय मिल लेंगे ।"

—"अच्छा हमें तो आज्ञा दो !"

दोनों व्यक्ति बिदा हुये ।

(२)

—"आओजी ! बहुत दिनों बाद आयीं । ठाकुर नर्मदाप्रसादसिंह की पत्नी ने आगन्तुका स्त्री का स्वागत करते हुए कहा ।

—"हाँ, इधर छुट्टी नहीं मिली । आप भी तो नहीं आयीं !"

"चार-पाँच दिन हुए तब मैंने सोचा कि चलूँ, मोटर भी मँगवाली थी, पर उसी समय पेशकार साहब के घर की आगयीं—उन्होंने कहा सिनेमा चलो । बस उनके साथ सिनेमा चली गयी । और कहो क्या हाल चाल हैं ?"

—"हाल चाल सब ठीक हैं बहन, वह काम तो अभी तक हुआ नहीं । न जाने कितनी बार तुमसे कहा ।"

—"कौन काम ?"

—"वही तुलसीराम की निगरानी कटवाने को जो कहा था ।"

—"अभी तक नहीं कटी क्या ?"

—"अभी कहाँ कटी । उस बेचारे की जिन्दगी खराब है । न कहीं जा सकता है न आ सकता है । कोई नौकरी भी नहीं मिलती । जो सुनता है कि निगरानी होती है वही नौकरी देने से इन्कार कर देता है । बेचारे के छोटे-छोटे बच्चे हैं—उन्हें पेट भर खाना भी नहीं मिलता, मिले कैसे, कहीं नौकरी-वौकरी लगे तो कुछ हो । उनका (पति का) स्वभाव ऐसा है कि एक दो बार उन्होंने दरोगाजी से कहा फिर कहा नहीं, बोले—बार-बार कहते शरम लगती है । मैं भी अब अन्तिम बार कह रही हूँ—कटवा सको तो अच्छा हैं, नहीं जैसी इच्छा ! मैं अब कभी नहीं कहूँगी ।"

ठाकुर साहब की पत्नी की भृकुटी चढ़ गयी, बोली—"मै अभी बुला कर कहती हूँ। जरा सा काम अभी तक नहीं किया, यह कौन सी बात है। घसीटे !"

—"हाँ बहूजी !" कहकर नौकर सामने आया।

—"जा, जरा दरोगाजी को बुला तो ला, कहना फ़ौरन चलो।"

नौकर चला गया।

ठकुराइन आगन्तुका से बोली—"बहन, क्षमा करना। जरा से काम के लिए तुम्हें इतनीं चिन्ता करनी पड़ी। आज देखो कैसा फटकारती हूँ।"

—"फटकारने-वटकारने की क्या बात है—याद नहीं रहा होगा। उन्हें कुछ यही काम तो है नहीं।"

—"जब मैंने कह दिया था तो याद क्यों नही रखा !"

इधर ये बातें हो रही थीं उधर नौकर दरोगाजी के पास पहुँचा। दारोगाजी, उस समय कागजों पर हस्ताक्षर करने में व्यस्त थे। नौकर ने कहा—"आपको बहूजी बुलाती हैं।"

दारोगाजी नाक-भौं चढ़ाकर बोले—"ठहरो !" सामने खड़े हुए कानस्टेबिल की ओर देखकर बोले—"तुम सख्त नालायक आदमी हो! किसी काम के नहीं !"

कान्स्टेबिल बोला—"हुजूर, इसमें मेरी गलती नहीं है—जिस वख्त यह बारदात हुई उस समय नासिरअली ड्यूटी पर था।"

थानेदार साहब कड़क कर बोले—"बस चुप रहो! अपना कुसूर नासिरअली के मत्थे मढ़ते हो। हट जाओ हमारे सामने से !"

कान्स्टेबिल म्लान मुख होकर सामने से हट गया। घसीटे फ़िर बोला—"जल्दी बुलाया है।"

थानेदार साहव ने—"उँह ! इनके मारे नाक में दम है।" कहकर कलम पटक दिया और भीतर पहुँचे। घसीटे ने जाकर बहूजी को खबर

दी। बहूजी आयीं ! आते ही बोलीं—"वाह ! तुम्हारे अच्छे काम हैं !"

ठाकुर साहब का सारा गुस्सा काफूर हो गया। बोले—"क्यों-क्यों ! क्या बात है ?"

—"उस तुलसी की निगरानी कटवाने को तुमसे कहा था, पर तुम्हारे कानों पर जूँ नहीं रेंगी। आज मुझे जितना लज्जित होना पड़ा है मैं ही जानती हूं।"

—"हाँ उसकी ! उसकी निगरानी तो अभी नहीं कटनी चाहिए। महीने में न जाने कितने बार उसकी गैर हाजिरी होती है। पक्का बदमाश है !"

—"बदमाश नहीं चाहे जो हो, जब मैंने कह दिया था तो क्यों नहीं कटी ? इसका जवाब दो।"

ठाकुर साहब खोपड़ी खुजलाते हुए बोले—"याद भी नहीं रहा। और बाबू कामताप्रसाद ने भी फिर याद नहीं दिलाया।"

—"दो तीन बार तो कहा और कहाँ तक कहें। भले आदमी ठहरे, बार-बार कहते लिहाज लगता है। पर तुम्हें लिहाज नहीं है कि एक भले आदमी और अपने मिलनेवाले ने एक काम कहा तो उसे फौरन करदें। इस समय उनके घर से आयी हैं उन्होंने दबी जबान से कहा कि न हो सके तो जाने दो। उनकी यह बात सुन कर मैं पसीने-पसीने हो गयी। ऐसा भी क्या कि जरा सा काम न हो सके—लानत है ऐसी थानेदारी पर !"

ठाकुर साहब का चेहरा उतर गया। अभी थोड़ी देर पहले उनके सामने जो दशा उस कान्स्टेबिल की थी वही दशा पत्नी के सामने उनकी थी। पत्नी ने पूछा—"बोलो ? अब क्या कहते हो ?" ठाकुर साहब

अपराधी की भाँति बोले—"इस महिने में जरूर कट जायगी, न कट जाय तभी कहना।"

—"अच्छी बात है! यह महीना और सही।"

ठाकुर साहब बाहर आकर फिर अपने स्थान पर बैठ गये। इसी समय चीफ कान्स्टेबिल ने कहा—"हुजूर! रामसिंह की खता माफ की जाय। गलती हो गयी अब आयन्दा ऐसी गलती नहीं होगी।"

ठाकुर साहव तो इस समय बर्फखाने से निकले थे—मस्तिष्क बिलकुल ठंडा हो चुका था। अतएव बोले—"अच्छा बुलाओ!"

उसके आने पर ठाकुर साहब उससे बोले—"अच्छा देखो! इस बार हम माफ किये देते हैं, आयन्दा कभी ऐसा न हो।"

—"अब कभी नहीं होगा हुजूर!" कहकर रामसिंह ने "सेल्यूट" किया और चला गया। उसने अपने एक साथी से कहा—"दारोगाजी इस समय तो बिलकुल ठंडे हैं, अभी तो आग हो रहे थे।"

साथी बोला—"भीतर गये थे—जान पड़ता है किसी बात पर करारी फटकार पड़ी है—तभी इतनी जल्दी ठंडे पड़ गये। जोरू से बहुत दबते हैं।"

इधर दारोगाजी ने हुक्म लगाया—"तुलसीराम की हिस्ट्री शीट लाओ।"

उपर्युक्त घटना के १५-२० दिनों पश्चात एक दिन रात में ठाकुर साहब भोजन कर के उठे ही थे कि मिर्जाजी दौड़े हुये आये। ठाकुर साहब बोले—"कहिए मिर्जाजी! क्या मामला है?"

—हुजूर वह मुखबिर आया है—कहता है कि जवाहरसिंह शहर आया हुआ है और अपनी आशना उसी औरत के यहाँ टिका है। ठाकुर-साहब अत्यन्त उत्सुक होकर बोले—"सच! उसे यहां बुलाओ!"

मिर्जाजो ने मुखबिर को बुलाया। ठाकुर साहब ने उससे पूछा—"क्यों क्या कहते हो ?"

—"हुजूर जवाहरसिंह आज आया है और उसी मकान में अपनी आसना के पास ठहरा है—शायद रात भर रहेगा।"

—"ठीक तरह से मालूम कर लिया है ?"

—"हा सरकार! मैंने अपनी आँखों से उसे देखा है।"

ठाकुर साहब "हैं!" कहकर मूछें मरोड़ने लगे। कुछ क्षणों तक चुपचाप मूछें मरोड़ने के बाद मुखबिर से बोले—"तुमने गलती तो नहीं की।"

—"गलती नहीं है हुजूर! गलती निकले तो मुझे फांसी दिलवा दीजिएगा।"

"अच्छा यहीं रहो।" मुखबिर से यह कहकर ठाकुर साहब ने मिर्जा जी को अलग बुलाया और उनसे कहा—"मिर्जाजी! आठ कान्स्टेबिलों को सादी पोशाक में जल्दी तैयार कीजिए, मैं भी तैयार होता हूँ। आप भी तैयार हो जाइए। पिस्तौल ले लीजिएगा। रबड़ के जूते पहनियेगा।

मिर्जाजी कुछ काँप रहे थे पता नहीं उत्तेजना के कारण या भय के। मिर्जाजी उधर गये, इधर दरोगाजी ने सादी पोशाक पहनी। पन्द्रह मिनट में मिर्जाजी सबको तैयार करके तथा स्वयम् तैयार होकर आ गये। ठाकुर साहब से उन्होंने कहा—"अगर हुजूर मुनासिब समझें तो कप्तान साहब को भी खबर करदें।"

ठाकुर साहब बोले—"कोई जरूरत नहीं। कप्तान साहब क्या करेंगे? खाली साथ हो जायँगे। काम हमी लोगों से लेंगे, नाम उनका हो जायगा। ऐसी हिमाकत मैं नहीं कर सकता। क्यों आपको कुछ खौफ मालूम हो रहा है क्या?"

—"अजी तोबा कीजिए हुजूर ! पुलीस की नौकरी करके खौफ खाने से काम नहीं चलता।"

—"ठीक है ! अच्छा आप कान्स्टेबिलों से कहिए कि अलग-अलग जायँ इकट्ठे न जायँ। जाकर चुपचाप मकान के चारों तरफ लग जायँ। मगर इस तरह कि किसी को शक न हो !"

मिर्जाजी ने कान्स्टेबिलों को बुलाया। ठाकुर साहब ने उन्हें अच्छी तरह समझा दिया। वे चले गये। उसके पश्चात ठाकुर साहब ने दो कान्स्टेबिलों को बुलाकर अपने पीछे-पीछे आने को कहा- तदुपरांत स्वयम्, मिर्जाजी तथा मुखबिर को लेकर चले।

उक्त मकान के निकट पहुँच कर मुखबिर ने कहा—"मैं आगे बढ़कर देखूं ?"

—"हाँ-हाँ ! मगर यह याद रखना कि अगर जरा भी धोखा या फरेब——।"

मुखबिर दारोगा जी की बात काटकर बोला—"बिल्कुल इतमीनान रखिए, हुजूर !"

मुखबिर ने आगे बढ़कर मकान के बन्द दरवाजे को धीरे-धीरे खट-खटाया। भीतर से किसी ने पूछा—कौन है ?"

—"हम हैं ! खोलो !"

मुखबिर ने इशारे से ठाकुर साहब को अपने निकट बुला लिया। मिर्जाजी तथा दोनों कान्स्टेबिल कुछ दूर पर अलग-अलग खड़े थे।

कुछ क्षणों पश्चात् द्वार धीरे से खुला और एक स्त्री ने मुखबिर से पूछा—"आ गये ?"

—"हाँ ! जवाहर क्या कर रहा है ?"

—"हाथ मुँह धो रहे हैं।"

ठाकुर साहब ने इशारे से मिर्जाजी तथा दोनों कान्स्टेबिलों को बुला लिया। सब लोग मकान के अन्दर हो गये। स्त्री ने भीतर से द्वार बन्द करना चाहा, परन्तु ठाकुर साहब ने उसे मना कर दिया। केवल किवाड़ ओढ़कवा कर एक कान्स्टेबिल को वहाँ खड़ा कर दिया।

मिर्जाजी के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। ठाकुर साहब ने अपना पिस्तौल हाथ में ले लिया। मिर्जाजी ने भी काँपते हुए हाथों से पिस्तौल संभाला। आगे-आगे स्त्री, पीछे ठाकुर साहव, मिर्जाजी कान्स्टे-बिल तथा मुखबिर ऊपर जीने पर चढ़ने लगे—सब लोग इस प्रकार पैर दबाकर चढ़ रहे थे कि बिल्कुल खटका नहीं हो रहा था।

इसी समय आवाज आयी—"तौलिया कहाँ धरा है? कहाँ चली गयी?"

—"आती हूँ।" स्त्री ने कहा!

स्त्री ऊपर पहुँच गयी। ठाकुर साहब ने देखा—जवाहर टिन-शेड के नीचे खड़ा है। केवल पाजामा तथा बनियान पहने है। कमर में कार-तूसों की पेटी बँधी है। उसी में पिस्तौल लगा है। टिन शेड में एक लालटेन जल रही थी। जीने में जहाँ ठाकुर साहब अपने साथियों सहित खड़े थे बिल्कुल अँधेरा था।

जवाहर ने स्त्री से पूछा—"कहाँ गयी थीं?"

स्त्री ने कहा—"कहीं नहीं! नीचे गयी थी।"

—"नीचे क्यों गयी थीं?"

—"कुछ खटका सा मालूम हुआ था—नीचे जाकर देखा तो बिल्ली थी।"

स्त्री ने तौलिया दिया। लालटेन के प्रकाश में दारोगाजी ने देखा, स्त्री तरुणी तथा सुन्दरी थी। स्त्री तौलिया देकर चली गयी। इधर

ज्योंही जवाहर ने मुँह पोंछने के लिए तौलिया मुँह पर रखा—ठाकुर साहब एक दम जीने से निकल कर उसके सामने उससे दस गज की दूरी पर, जा खड़े हुए और अपना पिस्तौल तान कर बोले–"बस खबरदार!" जवाहर कुछ क्षणों तक तौलिया हाथ में लिए हुए मूर्तिवत खड़ा रहा—तत्पश्चात बोला—"औरत के पीछे छिप कर आये दारोगाजी!"

—"जब तुम औरत के यहाँ छिपे हुए हो तो मुझे भी औरत के पीछे छिप कर आना पड़ा।"

ठाकुर साहब के पीछे मिर्जाजी खड़े काँप रहे थे। उनकी बगल में कान्स्टेबिल खड़ा था—उसका मुँह भी धुँआ हो रहा था। मुखबिर जीने में ही था। दारोगाजी ने कान्स्टेबिल से कहा—"लगाओ हथकड़ी!"

"देखो जवाहर तुम जरा भी हिले और मैंने गोली मारी।" जवाहर घृणापूर्वक मुस्कराया और बोला—"-दारोगाजी, अगर मैं चाहूँ तो आप मेरा कुछ नहीं कर सकते। कम से कम जिन्दा तो मुझे पकड़ ही नहीं सकते। और यह भी संभव है कि मैं निकल भी जासकूँ। परन्तु मैं अब कुछ न कहूँगा। मेरा समय आगया – नहीं तो जिन पर मैं विश्वास करता था, जिन्हें मैं प्राणों से अधिक समझता था, वे ही मेरे साथ दगा न करते।" इतना कह कर जवाहर ने दोनों हाथ बढ़ा दिये। अब कान्स्टेबिल का साहस बढ़ा और उसने लपक कर हथकड़ी डाल दी।

दारोगा साहब पिस्तौल केस में रखते हुए बोले—"तुम बड़े बहादुर मशहूर थे मगर इस समय तो तुमने बड़ी बुजदिली दिखायी।"

—"मैं और बुजदिल!" इतना कह कर जवाहर मुस्कराया।

—"तुमने अपने बचने के लिए कुछ भी प्रयत्न न किया।"

—"क्या कहूँ दारोगाजी, मेरा दिल टूट गया। जिन्हें मैं अपना

रक्षक और प्रिय समझता था उन्होंने ही मुझे गिरफ्तार कराया—यह देख कर सारे होसले पस्त हो गये, जीवन से तबीयत ऊब उठी।"

इतना कह कर जवाहर ने अपने चारों ओर देखा—"-रानी कहाँ गयी? जरा उससे दो बातें तो कर लेने दीजिए।"

रानी ने एक कोठरी के अन्दर घुस कर भीतर से किवाड़ बन्द कर लिये थे। दारोगाजी के कहने से वह बाहर आयी और जवाहर के सामने सिर झुकाकर खड़ी हो गयी। जवाहर बोला—"क्यों रानी, मेरे प्रेम मेरी मौहब्बत का, क्या यही इनाम है? खैर यदि मुझे पकड़वा देने से तुम्हारा कुछ भला होता है तो मुझे कोई शिकायत नहीं है।"

इतना कहते हुए जवाहर का कंठ गदगद हो गया। रानी ने कोई उत्तर न दिया।

\+ \+ \+ \+

जवाहर को गिरफ्तार करने के कारण दारोगाजी के बड़े नाम हो गये। उन्हें सरकार की ओर से इनाम भी मिला तथा शीघ्र ही तरक्की होने की आशा भी हो गयी।

जवाहर पर मुकदमा चला। रानी तथा मुखबिर सरकारी गवाह बन गये। मुखबिर जवाहर का विश्वास-पात्र आदमी था। जवाहर जब शहर आता था तो उसे अपनी रक्षा के लिए अपने साथ रखता था। रानी तथा मुखबिर में परस्पर प्रेम हो गया और रानी के कहने से ही मुखबिर ने जवाहर को गिरफ्तार करवाने के लिए मुखबिरी की।

मुखबिर के पता देने पर जवाहर के गिरोह के अधिकांश आदमी पकड़ लिए गये। सब पर यथा समय मुकदमा चला। सेशन से जवाहर तथा एक अन्य को फांसी की सजा मिली और अन्य लोगों को लम्बा

कारावास-दण्ड मिला। जवाहर की ओर से हाईकोर्ट में अपील की गयी, परन्तु कोई लाभ न हुआ—अपील खारिज हो गयी।

+ + + +

ठाकुर नर्मदाप्रसादसिंह कोर्ट साहब के यहाँ बैठे थे। बातों-बातों में रात के दस बज गये। ठाकुर साहब ने रिस्टवाच को देख कर कहा—"अब आज्ञा दीजिए, बहुत देर हो गयी!"

—"अजी बैठिए भी! बहुत दिनों बाद तो हम लोग इकट्ठे हुए है।"

—"अब तो पार्टी खत्म हो गयी—अब क्या है?"

—"तो बैठिए, जल्दी क्या है? और लोग भी तो जायँगें।"

ठाकुर साहब चुप हो गये, पर बेचैन थे। और सब लोग हँसी—मजाक कर रहे थे, परन्तु ठाकुर साहब का ध्यान कहीं और था। इस प्रकार साढ़े-दस बज गये। ठाकुर साहब एक दम उठ खड़े हुए, बोले—"बस, अब इजाजत दीजिये।" इतना कह कर ठाकुर साहब ने उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की और चल दिये। एक अन्य महाशय बोले—"ठहरो, मैं भी चलता हूँ।"

—"जल्दी आओ!" कह कर ठाकुर साहब रुक गये। उन्हें बाते करने में दो मिनट लग गये—ठाकुर साहब बोले—"भई, मैं जाता हूँ"—इतना कह कर ठाकुर साहब चल दिये। वह व्यक्ति लपक कर उनके साथ हो लिया और बोला—"बड़ी जल्दी है, क्या मामला है? घर जाकर सोना ही तो है?"

"अरे यार वाइफ इन्तजार में बैठी होगी। बहुत देर हो गयी। बहुत भुन्नायगी।"

"ओ! यह कहिए वाइफ का खौफ खाये जा रहा है।"

—"खौफ-बौफ नही, देर हो गई हैं अच्छा मैं तो साइकिल पर जाउँगा—मुझे किसी का डर नही है।"

ठाकुर साहब साइकिल पर चढ़ कर चले गये। वह व्यक्ति आगे बढ़ा तो एक दूकानदार दूकान बन्द कर रहा था और पड़ोस के दूकान-दार से कह रहा था—"स्त्री को अबला क्यों कहा—इस वजह से कहा कि—जरा इसे हटाना—रास्ते में ही धर देते हो, ऐसी खराब आदत है। हाँ—स्त्री को अबला इस—।"

वह वक्ति इतना आगे बढ़ गया था कि दूकानदार ने आगे कहा यह नही सुन सका। वह व्यक्ति सोचने लगा—"स्त्री और अवला! स्त्री ने जवाहर जैसे डाकू को, जिससे कि पुलिस और जनता थर्राती थी, पालतू कुत्ते की तरह पकड़वा दिया!"

"स्त्री ने ज़वाहर के इतने वड़े विश्वासपात्र नौकर को, स्वामी से विश्वासघात करने के लिए उद्यत कर दिया! और जो व्यक्ति जवाहर जैसे डाकू के सन्मुख जाने से नहीं डरा--वह स्त्री के भय के कारण कितनी बेचैनी के साथ घर भागा जा रहा है। और स्त्री को कहते हैं अबला! हा! हा!! हा!!!

मातृ भक्ति

शिवनारायण घर आकर अपने कमरे में पहुँचा। कपड़े उतार कर पलंग पर बैठ गया और एक हाथ का पङ्खा उठा कर झलने लगा। थोड़ी देर तक पंखा झलने के पश्चात जब पसीना सूखा तो टहलता हुआ अपनी माता के कमरे की ओर की ओर गया। माता उस समय कमरे के फर्श पर आसन बिछाये बैठी पूजन कर रही थी। आँचल के भीतर हाथ छिपाये माला जप रही थीं। पुत्र के पैरों की आहट पाकर उसने एक बार आँखें खोल कर देखा—देख कर माथा सिकोड़ लिया और पुनः आँखें बन्द कर के माला जपने लगी। शिवनारायण कुछ क्षणों तक खड़ा देखता रहा। तत्पचाप उसी प्रकार टहलता हुआ कमरे में लौट आया। कमरे के एक कोने में मेज रखी थी—उस पर कुछ पुस्तकें चुनी हुई थीं। उसने उनमें से एक पुस्तक उठाली और पढ़ने लगा। परन्तु उसका ध्यान पढ़ने की ओर इतना नहीं था जितना कि किसी दूसरी ओर। वह रह-रह कर कमरे के द्वार की ओर देखता था—मानों किसी के आने की प्रतीक्षा कर रहा है। इस प्रकार पंद्रह मिनट व्यतीत हो गये।

सहसा उसकी माता पूजा समाप्त कर के बाहर निकली। शिवनारायण ने पुस्तक बन्द कर के मेज पर रख दी और कमरे के बाहर निकल कर माता से पूछा—

—"अम्मा ! आज बहू कहीं गयी है क्या ?"

—"हाँ ?, गयी है।" माता ने माथा सिकोड़ कर कहा।

—"कहाँ ?" शिवनारायण ने पूछा।

—"जहन्नुम में।"

शिवनारायण अप्रतिभ हो गया। कुछ क्षणों तक मौन रह कर उसने पूछा—"क्यों, क्या हुआ ?"

—"अभी क्या हुआ। होगा तो उस दिन जिस दिन उस राँड की अर्थी मचमचाती निकलेगी।"

—"खैर वह जब निकलेगी तब निकलेगी—पर अभी वह कहाँ है ?"

बुढ़िया ने कोई उत्तर न दिया।

शिवनारायण ने फिर पूछा—"बताती क्यों नहीं ?"

—"तेरी इन्हीं बातों से तो उसका साहस बढ़ गया है। जरा देर नहीं दिखायी पड़ी, बस व्याकुल हो गया—कहाँ हैं ! कहीं हो तुझसे क्या ! जहाँ है वहाँ पड़ी रहने दे राँड को।"

—पहले यह तो बताओ है कहाँ ?" शिवनारायण कुछ उत्तेजित होकर बोला।

इसी समय एक ओर से किसी के सिसकियाँ लेकर रोने का क्षीण स्वर सुनायी पड़ा। शिवनारायण ने ध्यान लगा कर सुना। सुन कर बोला—"क्या कोठरी में बन्द कर रखा है ?"

माता ने कुछ उत्तर नहीं दिया।

—"उनके मारे किसी—दिन मेरी जान पर आ बनेगी।" पत्नी ने कहा।

—"सो कुछ नहीं होगा। जान पर आ बनना कोई दिल्लगी है ?"

पत्नी उठ कर बैठ गयी। उसने आँसू पोंछ डाले। उसके होंठ फड़कने लगे। किञ्चित उत्तेजित होकर वह बोली—तुम्हारे घर में दिल्लगी ही है। जब तुम लोग दूसरे की जान का कोई मूल्य नहीं समझते तब जान पर आ-बनना कौन बड़ी बात है ?" शिवनारायण हँसने लगा; परन्तु उस हँसी में झेंप-मिटाने की भावना अधिक थी। पत्नी बोली—"हाँ, तुम हँसो, खूब हँसो ! किसी की जान जाय, तुम्हारी हँसी है। इसीलिए तो यह दशा है। नहीं तो कहीं भी ऐसा अंधेर नहीं है कि जोरू की छीछा-लेदर हो और खसम देख कर हँसे।"

अब शिवनाराण के मुख पर झेंप स्पष्ट रूप से प्रस्फुटित हुई। झेंप के साथ ही उसका चिर-सहचर रोष भी आया। शिवनारायण रोषपूर्ण स्वर में बोला—"तुम न कुछ समझती हो न बूझती हो, जो मुँह में आता है बके चली जाती हो। आखिर मैं क्या कहूँ ? माँ को कुछ बुरा भला कहूँ तो चार आदमी मुझे ही कायल करें। मैं तो केवल उन्हें समझा बुझा सकता हूं। सो मैं करता ही रहता हूं।"

—"माँ चाहे किसी की जान लेले, चाहे जो कुछ करे; तुम उन्हें कुछ नही कह सकते ?"

—"तुम तो बात का बतङ्गड बनाती हो। जान-वान वह किसी की क्या ले सकती हैं। हाँ, उनका स्वभाव कुछ खराब है—यह अवश्य मानूँगा। सो उसका विरोध मैं करता ही रहता हूं। इसके अतिरिक्त मैं और क्या कहूँ ? तुमको भी मैं यही समझाता हूं कि तुम अपनी ओर से कोई बात ऐसी न करो जो उन्हें बुरी लगे।"

"मैं जो कोई बात जानबूझ कर उनके विरुद्ध करती हूं तो भगवान्

देखनेवाला है। पर भूल-चूक सबसे होती है। उस पर भी वह प्राण लेने पर उतारू हो जाती हैं—यह नही सहा जाता।"

—"सहना ही पड़ेगा। सहोगी नहीं तो क्या करोगी ?"

पत्नी ने इसका कोई उत्तर नही दिया।

(२)

शिवनारायण की माता दुष्ट स्वभाव की थी। उसका स्वभाव सब जानते थे इसीलिए आस-पड़ोस तथा जाति-बिरादरी की स्त्रियाँ उसके पास बहुत कम आती थीं। अपनी पुत्र-बधू के लिए तो वह पूरी राक्षसी थी। पुत्र बधू से वह कभी सीधे मुँह बात न करती थी। वह हर समय इसी ताव में रहती थी कि कौन सा ऐसा कारण मिले जो वह पुत्र-बधू पर अपना क्रोध निकाले। इसी कारण कोई ऐसा दिन नहीं जाता था जिस दिन शिवनारायण की पत्नी चमेली को सास की डाँट-फटकार न सुननी पड़ती हो। यह तो नित्य-कर्म सा हो गया था। परन्तु महिने में चार-छः बार यह नौबत भी आ जाती थी कि चमेली को भोजन नहीं दिया जाता था और एक दो दिन वह अँधेरी कोठरी में बन्द रखी जाती थी। शिवनारायण यद्यपि पढ़ा-लिखा आदमी था, ग्रेज्युएट था और डेढ़ सौ रुपये मासिक कमाता था परन्तु चमेली के प्रति अपनी माता के अत्याचार का बहुत कम विरोध करता था। कभी-कभी बहुत साहस कर के इतना कह देता था— "यह बात तो ठीक नहीं, तुम्हें ऐसा न करना चाहिए, तुम इसकी जान लोगी" इत्यादि। इस पर माता उसे फटकार देती थी। तब यह चुप हो जाता था। जब कभी उसके पड़ोसी जिन्हें उसकी माता के अत्याचारों को देखने सुनने का अवसर मिलता था उससे कहते—भई शिवनारायण, तुम्हारी माता बहुत ज्यादती करती हैं—तुम्हें उनकी इन हरकतों को रोकना चाहिए —तो वह उत्तर देता था।—"जहाँ तक बनता है रोकता हूँ,—अधिक

तो मैं उनसे कुछ कह नहीं सकता, आखिर कुछ भी हो—वह मेरी माता ही हैं। मैं नहीं चाहता कि उन्हें मेरे कारण दुःख पहुंचे।" इतना कह कर शिवनारायण लोगों से यह आशा करता था कि वे उसकी मातृभक्ति की प्रशंसा करें। कुछ पुरानो वृद्धाएँ तथा वृद्ध उसकी प्रशंसा भीं करते थे। बात पड़ने पर कहते थे—"लड़का हो तो शिवनारायण जैसा—उसकी माँ चाहे जो करे पर कभी कान तक नहीं हिलाता। आज-कल के लड़के जरा-जरा सी बात पर माँ-बाप को डाँटते हैं, मारते है पर शिवनारायण को देखो, उसकी माँ बहू को चाहे जो कह ले चाहे मारे चाहे पीटे पर वह माँ को कुछ नहीं कहता।" उनकी यह बात सुन कर शिवनारायण गद्-गद् हो जाता था और समझता था कि आज-कल उसकी जैसी मातृ-भक्ति दुर्लभ है। एक बार उसके मित्र ने उसे यह परामर्श दिया कि—"यदि तुम्हारी माता और पत्नी में नहीं पटती तो तुम माता से अलग रहो। उसे खर्च दे दिया करो और उसको खोज-खबर रक्खो।" यह प्रस्ताव शिबनारायण को इतना बुरा लगा कि उसने उक्त मित्र से मिलना-जुलना कम कर दिया और अन्य मित्रों से बात पड़ने पर कहता—"हजरत, मुझे सलाह देते थे कि माता को अलग कर दो। भला ऐसा कहीं संभव हो सकता है? इतना कह शिवनारायण माता-पिता की महत्ता का बखान करने तथा मातृ-भक्ति के पौराणिक उदाहरण देने लगता था।

एक दिन वही काण्ड हुआ। सास ने चमेली को पहले डंडों से पीटा तत्पश्चात उसे कोठरी में बन्द कर दिया। इस बार उसने कोठरी में ताला लगा दिया जिससे शिवनारायण उसे निकाल न सके। शिवनारायण ने पत्नी का उद्धार करने की चेष्टा की, पर ताला बन्द होने से विवश होकर बैठ रहा। बेचारी चमेली बारह घन्टे तक कोठरी में पड़ी रही। बारह घंटे बाद शिवनारायण के अनुनय-

विनय करने पर पर सास ने चमेली को मुक्त किया।

दूसरे दिन एक पड़ोसी ने शिवनारायण से कहा—"क्यों शिवनारायण, तुम्हारी माता तुम्हारी पत्नी की इतनी दुर्दशा करती है और तुम देखते रहते हो—यह बड़े आश्चर्य की बात है।"

—"तो आप ही बताइए, क्या करूँ?"

—"माता को डाँटो।"

—"वाह! यह आपने खूब कही। माता को डाँटूँ। माता को कोई डाँटता है?"

—"यदि माता डाँटे जाने का काम करे तो अवश्य डाँटना चाहिए।"

—"यह तो मुझ से नहीं हो सकता। लाख कुछ हो माता माता ही है।"

—"यह मातृ-भक्ति तो बड़ी विचित्र है!"

"तुम मातृ भक्ति का महत्व क्या समझ सकते हो?"

इतना कहकर शिवनारायण मातृ-भक्तों की गाथा सुनाने लगा।

पड़ोसी बोला—"यह सब मुझे मालूम है, पर वे माताएँ कैसी थीं, यह भी तो देखो।"

शिवनारायण बोला—"मैं आप से बात नहीं करना चाहता। आप मातृ-भक्ति क्या जानें? आजकल तो लड़के अपने माता-पिता को डंडों से पीटते हैं। आजकल कलियुग है!"

—"जितना बुरा माता-पिता को डन्डों से पीटना है उतना ही बुरा एक अबला को माता द्वारा डंडों से पीटे जाते देखना और उसको रोकने की चेष्टा न करना है। मेरे लिए तो दोनों में कोई अन्तर नहीं है।"

—"आप से सलाह लेता ही कौन है जो आप उपदेश देने लगे।"

—"तुम्हारी यह मातृ-भक्ति किसी दिन तुम्हें मुसीबत में फँसा देगी।"

—"तो इसकी चिंता आपको क्यों है?"

—"मनुष्यत्व के नाते, पड़ोसी को पड़ोसी के लिए चिन्ता होती है; इसीलिए मुझे भी है। अन्यथा मुझे क्या—तुम चाहे जो करो, मेरी बला से।"

—"हाँ! हाँ! आपकी बला से? एक बार नहीं सौ बार बला से! आप अपना काम देखिये—दूसरों की चिन्ता मत कीजिए।"

पड़ोसी बेचारा अपना सा मुँह लेकर रह गया।

(३)

—"क्या कहूँ बहिन अब तो जीना दूभर हो गया।" दोपहर का समय था। शिवनारायण की पत्नी अपनी एक सहेली से बैठी बातें कर रही थी। उसकी सहेली बोली—"तू तो पागल है! जीना दूभर तो तेरे बैरियों का।"

—"सच्ची कहती हूँ बहिन! सासजी मुझे जीने न देंगी।"

—"शिवनारायण उन्हें नहीं रोकते?"

—"वह क्या रोकेंगे? वह रोकते होते तो यह दशा क्यों होती!"

—"कैसे मर्द हैं!"

—"और तो सब बातें अच्छी हैं—झूठ क्यों बोलूँ! परमात्मा ऐसा आदमी सबको दे, पर खाली इस बात में कुछ नहीं बोलते। मैं जब कुछ कहती हूँ तो कह देते हैं कि, "माँ को मैं अधिक कुछ नहीं कह सकता। वह तो यह कह के अलग हो गये, मेरे प्राणों पर बीत रही है।"

"उन्हें ऐसा नहीं चाहिए ! उनको छोड़ के तेरा यहाँ है कौन, वही न सुनेंगे तो फिर कौन सुनेगा ?'

"क्या बताऊँ ! भाग्य की बात है। मेरे भाग्य ही फूटे हैं जो सास ऐसी मिली और आदमी ऐसा मिला कि चाहे माँ मुझे मार डाल, पर वह चूँ नहीं करेंगे।"

—'यह तो बड़ी खराब बात है।

—"अब तुम्हीं बताओ, मैं क्या उपाय करूँ।"

—'कुछ दिनों के लिए बाप के घर चली जा।"

—"वह भी बेचारे आज कल-कल मुसीबत में हैं। एक मुकदमा लग गया, उसमें पास-पल्ले जो था सो सब खर्च हो गया। नौकरी अलग छूट गयी ! बेचारे न जाने कैसे दिन काट रहे हैं। मैंने एक दफ़ा लिखा भी था कि मुझे बुलालो। उन्होंने जवाब दिया कि मैं आजकल खर्च से तंग हूँ—जब हालत ठीक होगी तो बुला लूँगा। अब बताओ मैं क्या करूँ ? मेरे लिए तो कहीं ठौर नहीं है।"

इतना कहते-कहते चमेली रोने लगी। रोते-रोते बोली—'उनकी मुसीबत का ध्यान आता है तो कलेजा फटने लगता है। यहाँ की दशा है कि साँस लेना भी कठिन हो रहा है। भगवान् मुझे मौत भी नहीं देते जो सारे झगड़ों से छूट जाऊँ।''

—"आखिर सास तेरे ऊपर इतनी नाराज क्यों रहती है ?"

—"भगवान जाने मैंने उनका क्या बिगाड़ा है। मैं तो हर तरह से उनकी सेवा करती हूँ, उनके सुख-दुःख का ध्यान करती हूँ—गम भी खाती हूँ और फिर भी उनकी आँख टेढ़ी रहती ही है।'

—"अच्छा तो तू एक काम कर।"

चमेली नेत्र पोंछते हुए बोली—'क्या ? बताओ !"

—"तू अब अपने पैरों पर खड़ी हो। आदमी की तो आशा छोड़ दे।"

—"मैं तुम्हारा मतलब नहीं समझी।"

—"मेरा मतलब यह है कि तू अब गम न खा। सास तुझे एक कहे तो तू दस सुना। तभी तेरा उद्धार होगा।"

—"वह मरने-मारने पर उतारू हो जाती है।"

—"तो तू भी वैसा ही कर! तू मरने-मारने से डरती है क्या?"

—"मरने-मारने से तो नहीं डरती, पर बदनामी से डरती हूँ। उन्हें तो कोई कुछ न कहेगा। सारा कलंक मेरे ही सिर आ जायगा।"

—"आवे तो आया करे! जब इस तरह जीना दूभर हो रहा है तो और करेगी क्या? और मैं तुझे बताती हूँ—जहाँ तू ने दो-चार दफा सास का सामना किया कि फिर वह नहीं बोलेगी।"

—"क्या कहुँ! मेरी तो हर तरह मुश्किल है, बहिन!"

—"मुश्किल-वुश्किल कुछ नहीं। जैसा मैं कहती हूँ, वैसा कर—सब मामला ठीक हो जायगा।—मेरी एक चचेरी बहिन है। उसकी सास भी तेरी सास जैसी थी। उस बेचारी ने भी बहुत दिनों तक सास की बातें सहीं—बड़े दुःख उठाये। उसका आदमी भी अपनी माँ को कुछ नहीं कहता था। अन्त को जब मेरी बहिन बेचारी तंग हो गयी तब उसने सास का सामना करना आरम्भ किया। एक दिन तो ऐसी नौबत आगयी कि मेरी बहिन ने सास को खूब पीटा! बस, तब से ठीक हो गयी—अब चूँ तक नहीं करतीं। इसलिए मेरा कहना मान—तू भी यही कर। परमात्मा चाहेगा तो यह भी ठीक हो जायगा। तू कुछ कमजोर नहीं है। चाहेगी तो पीस कर धर देगी।"

—"सो तो उनके भर को मैं बहुत हूँ; पर यही सोचती हूँ कि सब मुझ ही को कायल करेंगे। वह भी नाराज होंगे।"

—"कौन शिवनारायण ? नाराज हों तो हुआ करें। कब तक नाराज होंगे। जब समझेंगे तो कुछ नहीं कहेंगे। तू एक दफा करके तो देख।"

—"देखो सोचूंगी।"

—"या एक काम कर, आज उनसे कह दे कि या तो तुम खुद इसका कोई उपाय करो नहीं तो मैं जो ठीक समझँगी करूंगी, फिर मुझे दोष न देना।"

—"हां, यह ठीक है ! एक बेर उन्हें चिता दें।"

× × +

रात में चमेली अपने पति से बोली—"मैं एक बात कहे देती हूँ। अब से सासजी की नहीं सहूँगी। तुम तो कुछ बोलते नहीं। अब मैं जो ठीक समझूगी वह करूंगी।"

शिवनारायण ने लापरवाही से कहा—मैं तुम दोनों के झगड़ों में नहीं पड़ना चाहता। जो तुम्हारा जी चाहे तुम करो, जो उनका जी चाहे वह करें। मैं दोनों को समझाते-समझाते हार गया। इससे अधिक मैं कुछ नहीं कर सकता।"

—"मुझे समझाया तो तुम्हारी बात मान कर ही अब तक सब सहती चली आयी—पर उन्होंने तुम्हारी बात नहीं मानी। अब मैं भी अपने मन की करूंगी।"

शिवनारायण ने कोई उत्तर नहीं दिया।"

एक दिन शाम को चमेली भोजन बना रही थी। रसोई घर के सामने दालान में सास देवी बैठी माला सटका रही थीं। उसी समय सास ने चमेली से कहा—"एक गिलास पानी दे जा।"

चमेली ने सुना या नहीं सुना पर कोई उत्तर नहीं दिया। सास कुछ क्षणों तक प्रतीक्षा करके बोली—"ओ बहरी सुनती नही है ?"

—"क्या कहती हो ?" चमेली ने पूछा।

—"कहती हूँ तेरा सिर —चुड़ैल बहरी बन जाती है।"

—"सच्ची अम्मा, मैंने सुना नहीं।"

—"तू काहे को सुनेगी ! अपने मतलब की बात बड़ी जल्दी सुन लेती है—छत्तीसी कहीं की। मुझे चलाती है। तेरी जैसी मेरे नाखूनों में भरीं पड़ी हैं।"

"भरी पड़ी हैं तो पड़ी रहें। मैं कहती जाती हूँ कि मैंने नहीं सुना, फिर भी नहीं मानतीं"

—"मैं तेरे गुन न जानती हूँ तो मानलूँ।"

—"जानती हो तो जाना करो। तुमसे खोपड़ी कौन लड़ावे।" पुत्र-बधू ने कर्कश स्वर में कहा।

—"बहुत जबान चलायेगो तो चिमटे से जीभ खींच लूँगी—यह याद रखना।"

पुत्र-वधू ने कोई उत्तर न दिया।

सास ने कहना आरम्भ किया—"जैसी तू है मैं खूब जानती हूँ। वह तेरा बाप, उसकी चिकनी-चुपड़ी बातों में आकर मैं फँस गयी, नहीं तो मैं सात जन्म तुझे ब्याह कर न लाती। ऐसा धोखेबाज दगाबाज आदमी! मेरे लड़के का गला फँसा दिया। वैसा ही उसके आगे भी आ रहा है। सब करम हो रहे हैं। भगवान चाहेगा तो कीड़े पड़ेंगे—जैसा मुझ रांड-बेबा का गला फँसाया है।"

पुत्र-बधू उत्तेजित होकर बोली—!" क्या गला फँसा दिया? और कीड़े पड़ेंगे तुम्हारे, मेरे बाप के कीड़े क्यों पड़ेंगे? मेरे बाप को बढ़ती मनाओ जो मैं तुम्हारी सब सह रही हूँ। कोई दूसरी होती तो सिर का एक-एक बाल बीन लेती —मैं ही ऐसी हूँ कि सह रही हूँ। पर अब नहीं सहूँगी। बहुत सहा, अब एक कहोगी तो दस सुनाऊँगी। देखूँ मेरा क्या कर लेती हो। पुत्र-बधू का इतना कहना था कि सास आग-बबूला हो गयी—"हट जा रांड! मुझे तू सुनायेगी!" कहती हुई सास देवी

उठीं और पुत्र-बधू की ओर लपकी। पुत्र-बधू ने कहा—"बस, अलग ही रहना, नहीं आज तुम्हारी छीछालेदर कर डालूँगी।

"कर छीछालेदर" कहती हुई सास देवी रसोई में घुस गयीं और उन्होंने चूल्हे से एक जलती लकड़ी खींच कर उससे पतोहू पर प्रहार किया। पतोहू जब तक संभले-संभले तब तक सास का वार हो गया। जलती हुई लकड़ी पतोहू की धोती में लगी तो धोती ने आग पकड़ ली और जलने लगी। पुत्र-वधू एक चीत्कार कर के सास के लिपट गयी। पुत्र-बधू की जलती हुई धोती सास की धोती के सम्पर्क में आयी तो सास की भी धोती जलने लगी। इस प्रकार दोनों जलने लगीं। सास ने अपने को छुड़ाने का बहुत प्रयत्न किया; पर पतोहू जवान होने के कारण सास से बलवान थी—अतएव उसने न छोड़ा। कुछ क्षणों में दोनों होली की भांति जलने लगीं। सास ने हल्ला मचाया—"अरे दौड़ो इसने मुझे फूँक दिया।" परन्तु पड़ोसी लोग तो ऐसी बातें नित्य ही सुना करते थे। जिसने सुना उसने कोई ध्यान न दिया। अन्त में दोन जलते-जलते बेहोश होकर गिर पड़ीं।

\+ \+ \+

शिवनारायण जब दफ्तर से लौटा तो उसने देखा कि रसोई में चुल्हे से कुछ दूर पर उसकी माता और पत्नी दोनों लिपटी हुई नङ्गी पड़ी हैं। दोनों का शरीर बुरी तरह जल गया है। चूल्हे की आग ठंडी हो चुकी है। एक रोटी तबे पर जल कर काली हो गयी है। यह भयानक दृश्य देखकर शिवनारायण ने एक चीख मारी।

\+ \+ \+

ऋषिकेश में एक युवक सन्यासी गङ्गातट पर सबसे अलग एक पर्ण-कुटी में रहता है। वह किसी से कोई याचना नहीं करता और अधिकतर मौन रहता है। लोगों का खयाल है कि वह कोई सिद्ध-महात्मा है।

लोग बहुधा उसकी कुटी के सामने एकत्र होते हैं। सन्यासी कभी-कभी संसार की असारता का वर्णन करके लोगों को भगवतभजन का उपदेश दिया करता हैं। कभी-कभी जब माता तथा मातृ-भक्ति का प्रसङ्ग आ जाता है तो सन्यासी दीर्घ निःश्वास छोड़कर एकदम मौन हो जाता है।

हार जीत

पं० तुलाराम शास्त्री को सबसे बड़ा दुख यह था कि इस समय लोग चारों ओर चाँदी काट रहे हैं। कोई ब्लेक मार्केटिंग से हजारों के वारे-न्यारे कर रहा है, कोई रिश्वत लेकर तिजोरी भर रहा है, कोई कल-कारखानों में लम्बी मजदूरी पा रहा है, परन्तु शास्त्री जी का कहीं डौल नहीं लगता। लोग अब भी सत्यनारायण की कथा में बीस आने से अधिक नहीं देना चाहते। जन्मपत्र तथा कुन्डली इत्यादि का भी वही पुराना भाव चल रहा है।

एक दिन आपने पत्नी से परामर्श किया—"सबकी मजदूरी बढ़ गई है, सब चीजों के दाम बढ़े हुए हैं अतः हम भी अपनी दक्षिणा क्यों न बढ़ा दें।"

पत्नी ने कहा—'समझ लो। ऐसा न हो कि जो मिलता है वह भी हाथ से जाय।'

'वह हाथ से कैसे चला जायगा?' शास्त्री जी ने भृकुटी चढ़ा कर पूछा।

'जब अधिक माँगोगे तो लोग काम ही न करायेंगे।'

'क्यों न काम करायेंगे ? मूर्खत्वमति लोभता। मतलब केवल मूर्खत्व से है लोभता का तो अभी प्रश्न ही नहीं है।'

'यह क्या कह गये ?'

'तुम स्त्रियों के स्वभाव का एक श्लोक है, उसी का टुकड़ा कहा।'

'अपना सोच समझ लो।'

'बिना कुछ कहे—सुने तो कोई बढ़ायेगा नहीं। नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगः। सोते सिंह के मुँह में हिरन, जो है सो, नहीं घुसते।'

'जैसा तुम्हें जान पड़े वैसा करो।' पत्नी ने अन्तिम उत्तर दे दिया।

'खैर एक बेर तो यत्न करना ही चाहिए। यत्नेकृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः यत्न करने से सिद्ध न हो तो दोष नहीं है।'

दूसरे दिन एक महाशय जन्म-पत्र बनवाने आये। शास्त्री जी उनसे बोले—'पाँच रुपये लगेंगे।'

'पाँच रुपये ! दो रुपये में बना देते थे।'

'अब दो रुपये में नहीं बनेगी। कागज कितना मँहगा है और मिलता भी नहीं।'

'तो तीन तो ले लीजिए—एकदम से पाँच।'

'तीन का अङ्क अशुभ होता है।'

'अच्छा चार सही—अब तो प्रसन्न हो।''

'खैर चार ही सही।'

उसके चले जाने पर आप पत्नी से बोले—'देखो उद्योगिनं पुरुषसिंह मुपैति लक्ष्मीः। बिना उद्योग के कुछ नहीं होता।''

इसी बीच में दीपावली आगई। शास्त्री जी के एक यजमान बो‹छ 'शास्त्री जी इस बार आप जुआ खेलें।'

'द्यूत कार्य हमसे न होगा।'

'भाग्य की परीक्षा लीजिए। मेरा मन बोलता है आप शर्त्तिया जीतेंगे।'

शास्त्री जी ने कुछ क्षण बिचार किया। सोचा आज कल हमारे दिन तो अच्छे ही हैं। सब कार्य की दक्षिणा दून-ढाई गुनी हो गई। यदि ऐसे में जुए में भी जीत जाँय तो आश्चर्य ही क्या है।' यह सोच कर यजमान से बोले—'कौन जुआ खेलना चाहिए ?'

'सोलही खेलिए—ताश खेलिए।' रनफ़लास आता हैं।'

'हाँ रंगफलास तो कुछ-कुछ आता है।"

'तो वही खेलिये।'

'आप खेलते हैं ?'

'हाँ।'

'तो आपके यहाँ ही आकर खेलूँगा।'

'आज आइए !'

'आज ?'

'हाँ हमारे यहाँ तो रोज होता है—चौथ से आरम्भ हो जाता है।'

'अच्छा तो आज आवेंगे। पुरुषकारेण बिना दैवं न सिध्यति ! बिना पुरुषार्थं भाग्य सिद्ध नहीं होता।'

रात में भोजन इत्यादि से निवृत्त होकर और टेंट में बीस रुपये लगा कर शास्त्री जी यजमान के घर पहुँच गये। वहाँ फड़ जमा हुआ था। शास्त्री जी का स्वागत किया गया।

'शास्त्री जी को भी बाँटो।' यजमान ने कहा।

बोर्ड बसिए।' बाँटने वाले ने कहा।

'कितने का बोर्ड है ?' शास्त्री जी ने पूछा।

बोर्ड तो एक आने का ही है, चाल चाहे जितनी बढ़ा सकते हो।'

शास्त्री जी ने इकन्नी बसी।

जब पत्ते हाथ में आये तो देखकर तुरन्त फेंक दिये। यज़मान बोला—'यह क्या किया।'

'तो अपने 'टर्न' पर पत्ते फेंका कीजिए, इस तरह तो दूसरों का खेल खराब होता है।'

फिर पत्ते बाँटे गये। शास्त्री जी ने पत्ते देखकर मुँह बनाया और उन्हें इस प्रकार हाथ में लिया कि जिससे लोगों को पता चल गया कि रख जायँगे। यजमान ने पुन: टोका—

'यह आप क्या करते हैं ?'

'क्यों ? इस बेर तो मैंने पत्ते नहीं फेंके।''

'फेंकने से अधिक हैं। आप इस तरह लिए हुए हैं कि मालूम हो गया कि कुछ नहीं है।' तीसरी बार पत्ते बँटने पर शास्त्री के पास 'रन' आया। शास्त्रीजी का मुख खिल गया। बोर्ड की ओर देखा तो एक इकन्नी कम थी। आप बोले 'इसमें एक इकन्नी कम है, कौन नहीं चला।'

'हमें चलना है' कह कर एक ने इकन्नी फेंक दी।'

'हाँ बोलो! क्या रक्खे जा रहे हो? एकाध चाल तो चलो।' शास्त्री जी बोले। 'इस दफा आप बड़ी तत्परता दिखा रहे हैं। मालूम पड़ता है आपके पास पत्ते आ गये—इसीलिए मैं रक्खे दे रहा हूँ।'

यह सुनते ही शास्त्रीजी ने पत्ते पटक दिये और बोले—'हम नहीं खेलेंगे।'

'क्यों! क्यों! क्या हुआ ?'

'हमारे पत्ते देख लिए।'

'हमसे कसम ले लो जो एक भी पत्ता देखा हो!

'फिर कैसे समझ गये कि हमारे पास पत्ते आ गये।'

'इसका डङ्का तो आप स्वयं पीट रहे थे। हम क्या करें।'

इस प्रकार शास्त्री जी खेलते रहे जब कुछ न आवे तब पत्ते हाथ

में रखना उन्हें भारी हो जाय—जब कुछ आ जाय तो झट चैतन्य होकर खोज करने लगें कि कौन क्या चला है। यह देख कर लोग समझ जाते थे कि शास्त्रीजी के पास पत्ते पहुँच गये।

एक बार आप के पास इक्के की ट्रेल आ गयी! फिर क्या था—शास्त्रीजी लाटसाहब हो गये। बोर्ड को देखा कि सब इकन्नियाँ आ गयी हैं। जिसने पहली चाल चली उससे बोले--'क्या चवन्नी की चाल चलते हो—लम्बी चाल चलो।'

वह बोला—'भाइयो, सावधान हो जाओ। शास्त्रीजी जोरों पर हैं।'

शास्त्रीजी रक्त का घूँट पीकर बोले—'मेरे पास क्या धरा है।'

एक ने पत्ते धरते हुए कहा—'यह देखिए शास्त्रीजी आपके डर के मारे 'रन' रक्खे दे रहा हूँ। एक के पास गुलाम की ट्रेल थी। यह अठन्नी की चाल चला। शास्त्रीजी ने एकदम पाँच रुपये रख कर कहा—'पाँच की चाल।' उसने पत्ते फेंक दिए और बोला 'ले जाइये।'

शास्त्रीजी ने पत्ते पटक दिए और माथा ठोंक कर बोले--'वाह रे भाग्य इतना बड़ा पत्ता आया और कुछ न मिला, किसी ने शो तक नहीं कराये।'

गुलाम की ट्रेल वाला बोला—'यदि आप पाँच की चाल न चलते, रुपये-धेली की चाल चलते तो मैं आप से लड़ जाता। आपने पाँच की चाल चलकर मामला खराब कर दिया।'

'मैंने सोचा तुम भाग जाओगे, इसलिए शो कराई में कम से कम पाँच तो मिल जायँगे।'

'इसी लोभ ने तो मामला बिगाड़ दिया।'

'इस प्रकार खेलते रहे। अन्त को जब बीसों रुपये हार गये तब उठे। रास्ते भर यजमान को गाली देते आये कि 'ससुर ने घर बुला कर

लूट लिया।'

दीपावली की संध्या को आपने एक यन्त्र बना कर भुजदण्ड पर बाँध लिया।' पत्नी ने पूछा—'यह क्या बाँधा ?'

आप बोलें—'मनसा विश्व विजय की कीन्हीं। आज मैं विश्व को भी जीत लूँगा।'

'क्या किसी से लड़ने जा रहे हो ?'

'हाँ कुछ ऐसा ही आयोजन है।'

'इस उमर में लड़ना भिड़ना ठीक नहीं, कहीं चोट-चपेट लग जाय।'

आपने पत्नी की बात का उत्तर न देकर प्रस्थान किया और एक ऐसे स्थान पर पहुंचे जहाँ सोलही हो रही थी।

'हम भी आज खेलेंगे।' शास्त्री जी ने कहा।

'आइये। कौनसा दाॅव लीजिएगा ?'

'नौ ! मेरी धनुराशि है, मेरे लिए नौ का अङ्क शुभ है।'

शास्त्री जी खेलने लगे। खेलते खेलते चार सौ रुपये जीते। एक वृद्ध बोले—'बस अब न खेलिए।'

शास्त्री जी बोले—'वाह ! आज तो मैं विश्व को विजय कर सकता हूँ।'

उन्होंने पुनः कहा; परन्तु शास्त्री जी न माने। तीन घन्टा और खेलते रहे। क्रमशः सब हार गये—केवल दो रुपये बचे। अब उठकर भागे।

बौखलाये हुए भागे जा रहे थे कि एक ओर से आवाज आई—'एक लगावे चार पावे।' आपने सोचा— 'चलो ! यहाँ से कुछ तो जीत कर चलो।'

यह सोचकर पहुँच गये और दाँव लगाया। पहिला दांव जीत गये। बड़े प्रसन्न हुए। दूसरा दाँव हार गये। इस प्रकार हारते-जीतते पास के दोनों रुपयें भी हार गये। आखिरी दाँव में आपने समझा कि कुछ बेई-

मानी हो रही है। यह समझ में आते ही बिगड़ गये, बोले—'तुम धोखेबाजी करते हो—'अभी पुलिस को बुलाता हूँ !'

इतना सुनते ही दो-तीन आदमी लिपट गये और शास्त्रीजी से मार-पीट होने लगी। पिट-पिटाकर पुनः घर चले। रास्ते में सोचते जा रहे थे कि 'जान पड़ता है कि यन्त्र बनाने में कुछ क्रिया भ्रष्ट हो गई इसीसे विपरीत प्रभाव हुआ।'

घर पहुँचे तो पत्नी उनकी दुर्दशा देखकर बोली—'जान पड़ता कि पिटकर आये हो। मैंने पहले ही मना किया था।'

'अच्छा तुम्हींने अशकुन किया था—यह मुझे ध्यान ही न रहा। तब तो यह जितनी हार हुई है सब तुम्हारे नाम लिखी जायगी।'

'वाह वा ! जुआ खुद खेलें और हार मेरे नाम लिखी जाय।'

'क्या कहें दीपावली के दिन हार गये यह बड़ा बुरा हुआ।'

'तो खेले ही क्यों ?'

'खैर वह तो जो हुआ सो हुआ—अब एक काम करो।'

'क्या काम ?'

'आओ हम तुम खेलें। दोनों में से एक न एक तो जीतेगा ही। जो जीतेगा उसके लिए शुभ होगा इस प्रकार हमारे लिए हर प्रकार से शुभ होगा—क्यों कैसी युक्ति सोची !'

'बस क्षमा करो। मुझे जुआ खेलना आता ही नहीं।'

'कुछ तो आता होगा—पैसा उछाल कर खेल लो या ताक-जुफ्त खेल लो।'

'ताक-जुफ्त मुझे आता है।'

'वाह वा ! बस आओ खेल लें। दस-दस रुपये से खेलें।'

'मैं जीत जाऊँगी तो ले लूँगी।'

'हाँ ! हाँ ! यह बात मान ली।'

दोनों ने खेलना आरम्भ किया। इसमें भी शास्त्री जी हार गये।

हार कर शास्त्री बोले—'अरे तुमसे भी हार गया। गजब हो गया। यन्त्र-मन्त्र सब व्यर्थ गया।'

यह कहकर पण्डित जी ने यन्त्र तोड डाला। पत्नी दस रुपये जीत-कर बड़ी प्रसन्न थी। शास्त्री जी बोले—'चार सौ रुपये जीतकर फिर हार गया।'

'क्या कहा, चार सौ जीत गये थे ?'

'हाँ'

'तब ही यन्त्र ने अपना फल दिखाया, तुम खेलते ही रहे तो यन्त्र क्या करे !'

'ओ हाँ ! यह तुमने ठीक कहा। बड़ी भूल हुई।'

'अब न जुआ खेलना।'

'अब कान पकड़ता हूँ—इस जन्म में कभी नहीं खेलूँगा और यदि खेलूँगा भी तो तुम्हारे साथ—न हारने का शोक न जीतने का हर्ष ! कैसी कही !'

अपयश

भिखारी कुर्मी किसी समय एक अत्यन्त गरीब किसान था। उसके पास इतनी भी भूमि नहीं थी कि वह अपनी, पत्नी, तथा अपनी वृद्धा माता तथा छोटे भाई का उदरपोषण कर सके। अतः वह कुछ भूमि बँटाई पर लेकर तथा मजदूरी करके किसी न किसी प्रकार अपना निर्वाह करता था। युद्ध छिड़ने के पश्चात् नगर के कारखानों में काम करने के लिए आदमियों की खींच होने लगी। कारखानों में काम करने वालों के वेतन को सुन सुनकर उसका चित्त ललचा उठा। उसने सोचा कि यहाँ दिन भर मेहनत-मजदूरी करने पर भी उदरपोषण एक समस्या हो रहा है अतएव क्यों न शहर में जाकर कारखाने में भर्ती हो जाया जाय। यह सोच कर वह एक छुट्टी पर आये हुए अहीर के पास पहुँचा। रामजुहार के पश्चात् उसने कहा—"सारदा भइया! कारखाने में तो बहुत आदमी काम करते होंगे?"

"हाँ भइया, हजारों आदमी काम करते हैं।"

"हजारों आदमी!" भिखारी ने आश्चर्य से पूछा।

"हाँ, भइया।"

"भला हमारा भी वहाँ डौल लग सकता है?"

"हाँ क्यों नहीं! वहाँ तो रोज ही भर्ती होती रहती है। क्या भर्ती होगे?"

"हाँ भइया! यहाँ अब गुजर नहीं होता। दिन भर मेहनत करके भी पेट नहीं भरता।"

"सो तो न भरता होगा। अरे कारखाने में बड़ा मजा है, भर मुट्ठी रुपया मिलता है। शहर में रहो आनन्द करो।"

"अजा-मजा तो जब होगा तब देखा जायगा, अभी तो भइया पेट भरने की चिन्ता है।"

"सो पेट तो ऐसा भरेगा कि बदहजमी हो जायगी।"

भिखारी हँसने लगा। हँसते हुए बोला—"क्या बातें करते हो भइया!"

"सच्ची बात है। नौकरी करोगे तब पता चलेगा।"

"तो भइया हमें नौकर करवा दो जनम भर तुम्हारा गुन मानूगा।"

"तो हमारे साथ शहर चलो।"

"कब जाओगे?"

"चार दिन बाद जाँयगे।"

"तो हम जरूर चलेंगे।"

"घर में सलाह करली है?"

"घर में सलाह करने की क्या जरूरत है।"

"तुम्हारी अम्माँ जाने देगी।"

"भइया, एक बात कहें—बुरा न मानना।"

"कहो! तुम्हारे कहने का बुरा क्यों मानेंगे।"

"तुम्हारी अम्मा ने तुम्हे कैसे जाने दिया?"

"वह तो मना करती रहीं, पर हमने उनकी बात मानी ही नहीं।"

"क्यों नहीं मानी ? इसीलिए न कि यहां गुजर नहीं चलता था। गुजर चलता होता तो तुम जाते ही क्यों ?"

शारदा को कहना पड़ा कि—"हां यह बात तो ठीक कहते हो।"

"तो बस ऐसा ही समझो। जब यहाँ रहने से पेट नहीं भरता तब क्या किया जाय ? कोई माने या न माने।"

"यही बात है। अच्छा तो तैयार रहना। दो चार रोज तो हमारे यहाँ बने रहना—तब तक हम तुम्हारे लिए कोसिस करेंगे।"

हमारे पास रुपया पैसा तो कुछ है नहीं।"

"रुपये—पैसे की चिन्ता मत करो।"

भिखारी प्रसन्नचित्त होकर घर लौटा।

(२)

अन्त को भिखारी शारदा के साथ शहर को चल दिया। उसकी माँ तथा पत्नी ने बड़ा दुःख प्रकट किया; परन्तु वे उसे रोक न सकीं। कारण यह था कि एक तो कष्टमय जीवन होने के कारण उन्हें स्वयं चिन्ता थी कि कोई ऐसा प्रबन्ध हो जिससे कि कम से कम रोटियों की चिन्ता से तो वे मुक्त हो जायँ, दूसरे भिखारी उनकी बात मानने के लिए तनिक भीं प्रस्तुत न था।

शहर आकर भिखारी शारदा के घर में टिक गया। घर छोटा था और उसमें भी एक दूसरा व्यक्ति साझेदार था। भिखारी ने पूछा—"क्या इतनी ही जगह में रहते हो ?"

"हाँ और क्या। इतने का ही किराया पांच रुपया महींने है।"

"साठ रुपया साल ! गजब हो गया। साठ रुपये साल में तो बारह बीघा जमीन मिलती है।"

शारदा हँसकर बोला—"देहात की बात जाने दो ! यह है शहर समझे !"

"बताओ। देहात में इतनी जगह में तो घूरा डाला जाता है।"

"ज्यादा जगह करनी क्या है ? दिन भर तो कारखाने में रहते है। खाली रोटी बनाने खाने और रात को पड़ रहने भर की जगह चाहिए—।"

"और छुटी के दिन क्या करते हो ?"

"छुट्टी के दिन शहर घूमते हैं, सिनेमा देखते हैं।"

"सिनेमा क्या होता है ?"

शारदा ने समझाया। भिखारी को बड़ा आश्चर्य हुआ। बोला—"हां सुनते तो हैं पर कभी देखा नहीं।

"अब चाहे रोज देखो।"

"पहले नौकरी लग जाय तब कुछ अच्छा लगेगा। खाली पेट कुछ अच्छा नहीं लगता है।"

एक सप्ताह के अन्दर भिखारी को नौकरी मिल गई। कुलियों में भर्ती हो गया। वेतन बारह आने दैनिक निश्चित हुआ भिखारी बड़ा प्रसन्न हुआ।

तोन महीने में वह शारदा की बदौलत उस विभाग की एक मशीन पर काम करना साख गया। अतएव उसका वेतन डेढ़ रुपया दैनिक होगया। अब तो भिखारी की प्रसन्नता का कोई ठिकाना न था। बड़े आनन्द से रहने लगा। आधा वेतन घर भेज देता था और और आधे में अपना खर्च चलाता था। इस प्रकार उसे काम करते हुए छःमास होगये। पश्चात वह शारदा से एक दिन बोला—"अब छुट्टी लेकर घर हो आवें। कुछ कपड़ा-वपड़ा दे आवें।"

शारदा वोला—हां ! हां ! हो आओ ! वेतन मिलने पर भिखारी ने अपने घर वालों के लिए एक-एक धोती जोड़ा तथा एक एक शलूके के लिए कपड़ा लिया। पत्नी के लिये सुर्मा-मिस्सी इत्यादि भी खरीदा। यह सब सामान लेकर वह घर पहुँचा। वहाँ पहुँच कर उसने अपने घर को पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी दशा में पाया। गांव वाले उसकी उन्नत

दशा को देख कर प्रसन्न भी हुए और जले भी। मित्रों तथा हितैषियों को प्रसन्नता हुई अन्य लोगों के हृदय जले। आपस में कहने लगे—"अरे भइया, यह चार दिन की चाँदनी है। जहाँ लड़ाई खतम हुई कि फिर वही मोची के मोची।"

हितैषी लोग कहते थे कि—"जब तक लड़ाई खतम होगी तब तक काफी रुपया कमा लेगा। लड़ाई खतम भी हो जायगी तो जमीन ले लेगा—बैल बछिया खरीद लेगा; खेती करके आनन्द करेगा।"

इस प्रकार लोग अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार भिखारी की दशा के परिवर्तन पर विचार प्रकट करते थे।

(२)

छुट्टी समाप्त होने पर भिखारी पुनः शहर जाने के लिए तैयार हुआ। माँ ने पूछा—"बच्चा, अब कब आओगे?"

"जब छुट्टी मिलेगी। तुम किसी बात की चिन्ता न करना। हम बराबर रुपया भेजते रहेंगे। खूब मौज से रहना। रुपया जोड़ के भैंस खरीद लेना। बैल भी खरीदने होंगे।" यह सब समझा-बुझाकर भिखारी अपनी नौकरी पर चला आया।

तीन मास पश्चात उसे दो रुपया दैनिक वेतन मिलने लगा। वेतन तथा अतिरिक्त समय पर काम करने के कारण उसकी आय अस्सी रुपये मासिक के लगभग हो गई। अब वह पचास रुपये मासिक घर भेजने लगा। इस प्रकार तीन मास और व्यतीत हुए।

एक दिन वह मशीन पर काम कर रहा था और निकट ही दूसरी मशीन पर काम करने वाले से वार्त्तालाप भी करता जाता था। वार्त्तालाप में कोई बात ऐसी आई कि उसे बड़े जोर की हँसी आई। हँसते-हँसते वह मशीन पर झुक गया। वह मोटे कपड़े का कुर्त्ता पहने हुए था उस कुर्त्ते का दामन मशीन में पड़ गया—बस क्षण-मात्र में उसे मशीन

ने अपने अङ्क में घसीट लिया। जब तक मशीन बन्द की जाय तब तक वह बुरी तरह कुचल गया। उसी समय वह अस्पताल पहुँचाया गया। परन्तु वह इतना घायल हो चुका था कि अस्पताल पहुँचाने के दो घन्टे बाद ही उसकी मृत्यु हो गई। शारदा उसी के पास मौजूद था। मरने के कुछ मिनट पूर्व उसे कुछ होश आया था। होश आने पर उसने शारदा से केवल इतना कहा—"अम्मा को—धीरज......।" बस इसके आगे वह कुछ न कह पाया।

\+ + + +

शारदा छुट्टी लेकर गाँब पहुँचा। रास्ते भर वह यह सोचता जाता था कि वह किस प्रकार यह दुखद समाचार भिखारी के परिवार को सुनाएगा।

गाँव पहुँचकर वह सीधा भिखारी के घर पहुँचा। भिखारी की माता को देखते ही शारदा फूट फूटकर रोने लगा। भिखारी की माता सशंकित होकर बोली—"काहे बच्चा का भा ? जल्दी बताओ !"

"भिखारी भइया नहीं रहे—मसीन माँ दब गये। गलती उन्हीं की थी। भगवान की मरजी।"

इतना सुनते ही भिखारी के परिवार में हाहाकार मच गया। क्षण-मात्र में यह समाचार गांव भर में फैल गगा। समझदार लोग तो यह समझकर कि उस भिखारी का प्रारब्ध ऐसा ही था शोक प्रकट करके चुप हो गये। परन्तु कुछ लोगों ने कहना प्रारम्भ किया—देखी इस शारदा की बातें, बेचारे को लालच देकर ले गया और मरवा दिया। यही बात भिखारी के परिवार वालों को भी सुझा दी गई। अतएव उन्होंने भी यह कहना प्रारम्भ किया।

शारदा बेचारा अपना माथा ठोंक कर बोला—"यह देखिये ! हमने तो किया अच्छे के लिए, होगया बुरा। यह जमाने की खूबी देखो।"

उस दिन से भिखारी के परिवार तथा शारदा में शत्रुता होगई ।

अब जो कोई गाँव वाला शारदा से नौकरी के लिए कहता तो शारदा उत्तर देता था—"माफ करो भइया, भिखारी को नौकरी दिलाई तो यह जस मिला । अब मैंने कान पकड़ लिया ।"

जागरण

संध्या का समय था। बाबू कान्तीलाल अपने मित्रों सहित बैठे हुए थे। दीपावली पर वार्तालाप हो रहा था। एक मित्र कह रहा था—

"आखिर आपको जुए से इतनी चिढ़ क्यों होगई ?"

"जुआ बुरी चीज है।" कान्तिलाल ने कहा।

"हाँ, यदि इसकी आदत पड़ जाय। परन्तु दीवाली पर खेल लेने में कोई हर्ज नहीं है।"

"जो चीज बुरी है वह बुरी ही रहेगी, चाहे होली हो या दिवाली।"

"यह बात हम नहीं मानते ! दीवाली पर ऐसे ऐसे लोग भी खेल लेते हैं जो साधारणतया जुए के पास भी नहीं फटकते।" दूसरा मित्र बोला।

"यह मैं मानता हूँ; परन्तु मैं तो अब न खेलूंगा।"

"यह आपकी हठधर्मी है।"

"क्या दीवाली पर जुआ खेलना आवश्यक है ?"

"आवश्यक तो संसार में कुछ भो नहीं है, परन्तु जहाँ अन्य बहुत से अनावश्यक कार्य किये जाते है वहाँ एक यह भी सही।"

अन्य मित्र बोला—"कहते हैं कि दीवाली पर लक्ष्मी जी का फेरा होता है। जिसे वह सोता हुआ पाती हैं उस पर रुष्ट हो जाती हैं।"

"हाँ! और जागते रहने के लिए ही जुआ खेला जाता है।"

"यदि लक्ष्मी जी की आराधना करके जागा जाय तो क्या लक्ष्मी जी प्रसन्न न होंगी।"

"जी हाँ, क्या सहल समझ लिया है। एक दिन जाग कर तो देखिये। खाली ताश या और कोई खेल खेलिये तव भी नींद आने लगेगी। यह सिफत तो जुए में ही है कि रातभर टइयाँ से बैठे रहते हैं आँख भी नहीं झपकती।"

कान्तिलाल बोले—"अच्छा यही सही! मैं जुआ खेले बिना रात भर जागकर दिखा दूंगा।"

"दिखाया है।"

"अच्छा कुछ शर्त रही।"

"बोलो यही सही। क्या शर्त बदते हो?"

"जो आपकी इच्छा हो।"

"जो तुम कहो।"

"सौ सौ रुपये की शर्त रही।"

"स्वीकार है!" कान्तिलाल ने कहा।

"अच्छी बात है। परन्तु यदि आप शर्त हार गये तो पड़वा को जुआ खेलना पड़ेगा।"

"यह शर्त भी रक्खोगे?"

"जनाब! यही तो खास शर्त है।"

"अच्छा यह भी मंजूर!"

रात में जब मित्र-मण्डली कान्तिलाल के घर से चली तो आपस

में सलाह होने लगी। एक बोला—"यार ब्रजभूषण! कान्तिलाल को हराना चाहिए।"

"कैसे हराओगे?"

"यही तो सोचना है।"

"यह राम जी तो है बौखल। अपना आनन्द छोड़ कर कान्ति के पास बैठेगा कौन?"

"यह तो विमल ठीक कहता है। हम लोग खेलेंगे या पहरा देंगे।" ब्रजभूषण ने कहा।

"ऐसा करेंगे कि उसे अपने पास बिठा लेंगे। हम लोग खेलेंगे वह बैठा जागता रहेगा।" राम जी ने कहा।

"यह वह शायद ही स्वीकार करे।"

"तो जनाब उसे ऐसी जगह बैंठना पड़ेगा जहाँ उसे हम लोग देखते रहें, घर के भीतर नहीं बैठने पायगा।"

"यह बात तय कर लो।"

"चलो अभी तय कर लें।"

पुनः तीनों लौटे! कान्तिलाल कमरा बन्द करवाकर अन्दर जा ही रहे थे कि तीनों पहुँच गये। कान्तिलाल ने पूछा—"क्यों कैसे लौट आये?"

"एक बात तय करना रह गई।"

"क्या?"

"आप कहाँ बैठेंगे?"

"अपने घर में।"

"घर के भीतर?"

"जहाँ आप कहेंगे।"

"बस इसी कमरे में! हम लोग खेलते रहेंगे तुम बैठे रहना।"

"यह बात गलत है। खेलने मैं किसी को न दूंगा।"

"तब हम लोग जागेंगे कैसे ?"

"अब यह तुम जानो ।"

"अच्छा तुम दूर बैठ जाना—ऐसी जगह जहाँ हम लोगों को दिखाई पड़ते रहो ।"

कान्तिलाल कुछ क्षण सोचकर बोला—"अच्छी बात है । मैं सामने वाले कमरे में बैठा रहूँगा । यहाँ से दूर भी है और तुम लोम मुझे देखते भी रहोगे ।"

"हाँ यह मानी !"

बाहर निकल कर ब्रजभूषण बोला—"अच्छा उल्लू बनेगा । हम लोग खेलेंगे और यह दूर बैठा देखता रहेगा ।"

"क्या खयाल है—जागता रहेगा ?"

"बड़ा कठिन है ! मुझे तो आशा नहीं है ।"

"एक-दो बजे तक तो जागना सरल हैं परन्तु उसके पश्चात् कठिन पड़ जायगा ।"

"सबेरे की नीद सँभालना बड़ा कठिन काम है ।"

"खैर ! देखा जायगा । जागना उसका काम है । अपने राम तो खेलते रहेंगे ।"

(२)

कान्तिलाल पत्नी से बोले—"इन बदमाशों को जेर करना है और सौ रुपये भी जीतने हैं ।"

"कैसे क्या करोगे ?"

"जागता रहूँगा ।"

"खाली बैठे जागना बड़ा कठिन पड़ जायगा ।"

"हाँ यही डर मुझे भी है । तब क्या किया जाय ?"

"यही तो सोचना है ।"

"ऐसा हो सकता है कि कुछ देर तुम बैठ जाओ ।"

उधर रामजी भी अपने डाक्टर के पास पहुँचा उसने कहा—"एक दवा ऐसी चाहिए जो खाते ही नींद आजाय।"

"क्या करोगे ?"

,'एक शर्त बदी है।'

"कि देखें कौन जल्दी सोता है ?"

"नहीं ! फिर बता दूंगा दवा दे दीजिए।"

"असर करेगी ?"

"यदि उन्निद्ररोग न हुआ तो तुरंत असर करेगी।"

"खिलाई कैसे जायगी ?"

"एक गोली मुँह में डालकर ऊपर से पानी पीलो।"

"यह तो जरा गड़बड़ है।'

"क्यों ?'

"ऐसी दीजिए कि पान में खिला दी जाय और खाने वाले को मालूम न पड़े।"

"अच्छा तो किसी दूसरे को खिलाइयेगा और वह भी उसकी मर्जी के खिलाफ।"

"जी हाँ।"

"तो इसी गोली को पान में खिला देना। चाहे गोली का पाउडर बना लेना।'

"आप ही बनवा दीजिए—या दो का पाउडर बनवा दीजिए।"

डाक्टर ने दो गोली के पाउडर की दो पुड़ियाँ बनवा दीं।

रामजी ने मित्रों से कहा—"सब प्रबन्ध ठीक कर लिया।"

"क्या ठीक कर लिया ?"

"जागने का इन्तजाम कर लिया।'

"तुम्हें जागने का प्रबन्ध करने की क्या जरूरत थी तुम तो खेलते रहोगे।"

"फिर भी सावधान रहना जरूरी है। सौ रुपये की शर्त बदी है।"

"चाय पी लेना! नीद न आवेगी।"

"वह चाय पिलायेगा। हम लोगो ने न सोने की शर्त्त थोंड़े ही बदी है।"

"हाँ यह ठीक है। यह तुमने अच्छी सोची!"

लेकिन वह भी पियेगा?"

"वह तो वैसे भी पी सकता है। चाय पीने की मनाही थोड़े ही हैं।"

"खैर जी देखा जायगा। खाली चाय नींद को नहीं रोक सकती।"

"कदापि नहीं। दो बजे के बाद अवश्य नींद आयगी।"

(३)

दीपावली के दिन लक्ष्मीपूजन से निवृत्त होकर तीनों व्यक्ति दो अन्य मित्रों के सहित कान्तिलाल के यहाँ पहुँचे।

"रामजी जाते ही बोला—"थोड़ी देर बाद हम लोग चाय पियेंगे।"

कान्तिलाल मन में प्रसन्न होकर बोला—"अब यह स्वांग लाये। तुम पियोगे मैं भी पियूँगा।"

"आप शौक से पीजिए—मना कौन करता है। हम मना करें तब भी आप मानेंगे, थोड़े ही।"

"कितनी देर बाद पीयोगे?"

एक घंटे बाद!

"अच्छा देखो मैं सामने वाले कमरे में बैठता हूँ—सफेद चादर ओढ़ कर!"

"हम बीच बीच में पुकारते रहेंगे—आप किसी दूसरे को बिठा दें तो?"

"हाँ आप पुकारते रहियेगा, परन्तु जल्दी जल्दी नहीं।"

"यह मानी—घन्टे भर के पहले पुकारेंगे।" यह कह कर रामजी ने पान की डिबिया निकाली।

"पान घर से लगवा लाये ?"

"नहीं—एक बढ़िया तँबोली से लाया हूँ। लेओ आओ।" यह कह-कर रामजी ने दो पान कान्तिलाल को दिये।

"तमाखू तो भी देओ।"

"इसमें बढ़िया तमाखू पड़ी है।"

कान्तिलाल पान बचाकर दो तीन पीकें निगल गया और बोला—"तमाखू तो इसमें पड़ी नहीं है।"

"नहीं है—तो शायद भूल गया। ऊपर से खालो—दूँ।"

अब तो पान ही खतम हो गया।"

"पान बढ़िया है कि नहीं ?"

"बढ़िया तो है, पर स्वाद कुछ विचित्र सा है।"

"न जाने क्या मसाला डालता है। इसी स्वाद के लिए लोग इससे पान खाते हैं।"

"मुझे तो स्वाद पसन्द नहीं आया।"

"अपनी-अपनी पसन्द है।" अच्छा ! अब खेल आरंभ होना चाहिए।"

"अभी थोड़ी देर तो मैं बैठ सकता हूँ।"

"हमारी तरफ से रात भर बैठिये, पर खेल मत देखना—अलग बैठे रहना।"

"हां यह मानी।"

पाँचों व्यक्ति 'फ्लश' खेलने लगे। कान्तिलाल उनसे हटकर बैठ गये। एक घन्टा व्यतीत होने पर कान्तिलाल ने पूछा—"चाय मँगाऊँ ?"

"हाँ अब मँगाओ।"

चाय मँगाई गई सबने चाय पी ! ब्रजभूषण बोला—"चाय में दूध

ज्यादा था।"

"मैंने जानकर ज्यादा डलवा दिया था कि आप लोग जागेंगे—खुश्की न करे।" जब ये लोग चाय भी पी चुके तब कान्तिलाल दूसरे कमरे में जाकर बैठ गया! इन लोगों को केवल श्वेत चादर ओढ़े हुए मनुष्याकृति दिखाई पड़ती थी। रामजी ने पुकारा—"कान्तिलाल!"

"हाँ! मैं ही हूँ इतमीनान रक्खो।"

"ठीक हैं। डटे रहो।"

एक बजे तक खेल होता रहा। कान्तिलाल सामने बैठा हुआ था। ये लोग बीच-बीच में उसे पुकार लेते थे।

एक बजे के पश्चात पाँचा में से एक तकिये के सहारे होकर बोला-"हमारे पत्ते न बाँटना—हमें नोंद बड़े जोर लग रही है।" यह कहकर उसने आँखें बन्द कर लीं।"

रामजी जमुवाई लेकर बोला—नीद तो मुझे भी आ रही है। तुम लोग जब तक खेलो, मैं एक झपकी ले लूँ। कान्तिलाल को पुकारते रहना। कान्तिलाल! "हां, कहिए!" कान्तिलाल ने उत्तर दिया। राम जी ने तकिये पर सिर धर दिया। शेष चार व्यक्ति खेलते रहे। परन्तु थोड़ी देर बाद उन्होने भी खेल बन्द कर दिया और लेट गये।

सबेरे आठ बजे के लगभग कान्तिलाल ने लातें मार मार के पाँचों को उठाया। रामजी घबरा कर उठा और आँखें मलता हुआ बोला—"अरे यह तो सबेरा हो गया।"

"जनाब! सौ रुपये निकालिये बाँये हाथ से! खुद तो सो गये, मैं रात भर जागता रहा। अच्छा उल्लू बनाया।"

"यह अच्छी रही। न जाने क्यों नींद आ गई। तुम भी सो लिये होगे बड़े सयाने हो।"

"मैं क्यों सोता। मुझे तो नींद ही नहीं आई।"

"बड़ा बेजा काम हुआ।"

रामजी ने सौ रुपये निकाल कर दिये। सब के चाले जाने पर कांति-लाल पत्नी से बोले—"देखा तरकीब काम दे गई।"

"हाँ! परन्तु जब तुम इन लोगों के सो जाने पर सो गये तो मुझे डर लगा कि कहीं कोई जाग कर तुम्हें पुकार न बैठे।"

"उस समय का सोया हुआ कहीं जाग सकता है। और जब कि सोने की दवा खाये हुये हो।"

संध्या समय जब पुनः सब मिले तो कान्तिलाल ने कहा—"देखा! मैं जागता रहा तो मुझ पर लक्ष्मी की कृपा रही और तुम सो गये तो लक्ष्मी पास से चली गईं।"

"जुआ तो तुम्हें खेला ही दिया।"

"सो कैसे?"

"सौ रुपये कैसे मिले—जुए में ही तो जीते।"

"बाह!"

"वह जुआ नहीं था तो क्या था। शर्त बदी थी कि नहीं। अब कहिए, कैसा खेलाया, फ्लाश न खेला तो यों खेला। था वह जुआ ही।"

कान्तिलाल ने जेब से नोट निकाल कर रामजी की ओर फेंक दिये और कहा—"जुआ था तो लीजिए अपने रुपये। हराम के रुपये मैं नहीं लेता। जुए का रुपया हराम का होता है। लेकिन कैसे अन्टा चित्त हुए हो—दवा ने अच्छा काम किया।"

राम जी कान खड़े करके बोला—"दवा! अच्छा मैंने भी आप को सुलाने की दवा दी थी।"

"तो मैंने उससे पहले ही न सोने की दवा खा ली थी। और फिर भी जब आप लोग सो गये तो मैं भी सो गया। मैं अहमक था नहीं जो जागता रहता।"

यह सुन कर सब लोग खूब हँसे।

पैसा

बाबू मोहनलाल माथुर अपने बैठकखाने में विराजमान थे। इनकी वयस ४५ के लगभग थी। बाबू मोहनलाल न कोई व्यवसाय करते थे और न कहीं नौकरी; परन्तु फिर भी बड़े ठाठ-बाट से रहते थे। रियासत तथा जमींदारी भी नहीं थी। उनके सम्बन्ध में तरह तरह की बातें प्रचलित थीं। कोई कहता था जुआ कराते हैं, कोई कहता था चोरी डाके का माल खरीदते हैं। किसी का खयाल था कि गिरहकटों के गिरोह के मुखिया हैं। इतनी बात तो सब जानते थे कि माथुर जी बड़े लोभी आदमी हैं और पैसे के सामने वह किसी की हस्ती नहीं समझते।

बाबू साहब के पास तीन-चार आदमी बैठे हुए थे। एक व्यक्ति कह रहा था—"जिसके पास पैसा है वही आदमी है।"

"पैसे के सामने बड़े-बड़े झुक जाते हैं।"

"पैसेवाला सबकुछ कर सकता है।"

बाबू मोहनलाल बोले—"अगर पैसा नहीं है तो संसार में जीवित रहने से क्या फायदा ?"

"ठीक कहते हैं आप ! जिसके पास पैसा नहीं उसे जिन्दा रहने का कोई हक़ नहीं।"

"अगर मेरी चलती तो इन कङ्गालों को गोली मरवा देता।"

"अच्छा, ऐसी खफगी !" एक ने हँस कर कहा।

"सच कहता हूँ। ये कंगाल बेकार में जमीन का बोझ बने हुए हैं। खुद भी तकलीफ़ उठाते हैं और पैसेवालों को भी परेशान करते रहते हैं।"

कङ्गालों को गोली मरवाने के बजाय आप ऐसा इन्तजाम क्यों न करें कि वे भी पैसे वाले बन जाँय।"

"यह तो गैर मुमकिन है।"

"तो यह भी गैर मुमकिन है कि आप सब को गोली मरवादें।"

"यह तो हमें भी मालूम है; लेकिन ऐसा सोचते हैं।"

"जब असम्भव बात ही सोचना है तो यह क्यों न सोचो कि सब को मालदार बना दें या कम से कम कंगाल तो न रक्खें।"

बाबू मोहनलाल बोल उठे—"आज तो व्रजमोहन कंगालों का बड़ा पक्ष ले रहे हैं।"

"पक्ष लेने का कोई प्रश्न नहीं है। इनकी बात का जवाब है।"

"मैंने तो जो कहा वह केवल पैसे की महत्ता जताने के लिए कहा।"

"पैसे की महत्ता क्या कंगालों को मरवा डालने से ही प्रमाणित हो सकती है ? कोई अन्य तरीका नहीं है ?"

"अच्छा तो यह बताइये कि क्या संसार में पैसा ही सबकुछ नहीं है।"

"पैसा बहुत कुछ है, परन्तु पैसा सबकुछ नहीं है।"

"यहाँ भी आप गलती कर रहे हैं। पैसा ही सबकुछ है। क्यों बाबू मोहनलाल क्या राय है?"

"बात तो ठीक कहते हो; परन्तु बहुत से लोग इसे नहीं मानते।"

"जैसे ब्रजमोहनलाल!"

ब्रजमोहलाल बोल उठे—"हाँ! मैं तो यह नहीं मानता कि संसार में पैसा ही सबकुछ है।"

"पैसे के लिए खून करने को तैयार हो जाओगे, परन्तु मानोगे नहीं।"

"कदापि नहीं मानूँगा। यह बात दूसरी है कि मैं पैसे के लिए खून करने को तैयार हो जाऊँ; परन्तु मैं यह कभी नहीं मान सकता कि पैसा ही सबकुछ है।"

"अच्छा तो पैसे से बड़ी क्या चीज है यह बताइये।"

"पैसे से बड़ी इज्जत!"

इस पर सब लोग अट्टहास करने लगे।

"बड़े बड़े इज्जतवाले पैसे के सामने झुक जाते हैं।"

"पैसा स्वयं सबसे बड़ी इज्जत है।"

"पैसे के पीछे इज्जत कुत्ते की तरह चलती है।"

"खैर! मैं बहस नहीं करना चाहता। यह बात बहस से तय नहीं हो सकती। यह अनुभव की चीज है।"

"तो हम लोगों को भी कुछ अनुभव है। आप ही बड़े अनुभव वाले नहीं हैं।"

"हाँ, हो सकता है कि आपको भी अनुभव हो परन्तु इस क्षेत्र का अनुभव आपको नहीं है। आपको जो मिले हैं वे पैसे के गुलाम ही मिले हैं।"

"आपको अनुभव है?"

"हाँ मुझे बड़ा कटु अनुभव है। पैसा कितना बेकार प्रमाणित हो सकता है इसका मुझे पूरा अनुभव है।"

"वह क्या, जरा सुनाइये तो सही।"

"सुनियेगा ? अच्छा सुनिये।"

यह कह कर ब्रजमोहनलाल ने कहना आरम्भ किया।

(२)

"पाँच बरस पहले की बात है। उस समय एक डाकुओं के गिरोह से मेरा सम्बन्ध था। डाकू जो माल डाके से लाते थे वह माल मेरी मार्फत बिका करता था—उसमें मुझे कमीशन मिलता था। इस प्रकार साल में मुझे चार-पाँच हजार रुपये मिल जाते थे।

"जिस दल से मेरा सम्बन्ध था उस दल का मुखिया गजराज अहीर था। यह बड़ा बलवान, साहसी और निडर आदमी था। पुलिस उसके नाम से काँपती थी।"

"गजराज वही जिसे फाँसी हो गई थी ?" बाबू मोहनलाल ने पूछा।

"हाँ ! गजराज और उसके दो साथियों को फाँसी हो गई थी और शेष कुछ आदमियों को लम्बी सजायें। तब से वह दल टूट गया। हाँ तो एक बार ऐसा संयोग हुआ कि एक गाँव मे एक मालदार वैश्य रहता था। गजराज ने उसके यहाँ डाका डालने की बात सोची !

"मुझे यह काम सौंपा गया कि मैं वहाँ की सब आवश्यक बातों का पता लगा कर दल को सूचना दूँ। अत. एक दिन मैं उस गाँव में पहुँचा।

"वहाँ पता लगाने से मुझे बहुत सी बातें मालूम हुईं। साथ ही यह पता लगा कि वैश्य का माल उसके घर में न रह कर कहीं अन्त रहता है।

"उस गाँव में एक चमार रहता था। पचास बरस की उसकी वयस थी। गाँव भर उसकी बड़ी इज्जत करता था। बड़े-बड़े ठाकुर-ब्राह्मण भी उसका आदर करते थे। मुझे यह जानने की उत्सुकता हुई कि आखिर इसकी इज्जत का कारण क्या है। लोगों से पूछताछ करने पर मालूम हुआ कि अलगू बड़ा सच्चा आदमी है—जो बात जबान से कह देता है उससे फिर कभी नहीं फिरता चाहे संसार इधर से उधर हो जाय। साथ ही यह पता लगा कि यह उक्त वैश्य के यहाँ नौकर है।

"मैंने अलगू से बात करने की इच्छा की, संध्या के समय मैं उससे मिला। पहले इधर उधर की बात करके मैंने पूछा—"कहो अलगू तुम रामचरण के यहाँ नौकर हो!"

वह बोला—"हाँ साहब!"

"क्या काम करते हो?"

"काम क्या, उनकी परवरिस है। काम लायक तो हम रहे भी नहीं हैं।"

"फिर भी कुछ तो करते ही होगे।"

"ऐसे ही उनके जानवरों की देख-भाल करता रहता हूँ।"

"लाला बड़े मालदार हैं।" मैंने पूछा।

"होंगे! हमें उनके माल से क्या मतलब। हमें तो रोटी से मतलब है।"

"तुम्हारे मतलब की बात मैं नहीं कहता, यह कहता हूँ कि मालदार हैं।"

"हाँ रामजी की दया है, कोई कमती नहीं है।"

"बैंक में रुपया जमा होगा?"

"क्या जानें कहाँ जमा है। हमें इन बातों से क्या मतलब।"

"देहातों में रुपया-पैसा पास रखने से खटका रहता है, इससे पूछा।"

"हाँ! पर मै क्या जानूँ कहां रखते है।"

"मैने बहुत कोशिश की कि उससे कुछ भेद मिल सके, पर उसने कुछ न बताया। अन्य गाँव वालों से बात हुई तो उन्होंने बताया कि अलगू को सब पता है। लाला रामचरण की कोई ऐसी बात नहीं जो अलगू नहीं जानता हो।

"मैं पुनः अलगू से मिला। मैंने उसे नौकरी का लालच दिया। तनख्वाह भी अधिक देने का वादा किया, परन्तु वह बोला—मुझे रुपया क्या करना है। रोटी-कपड़ा मिलता रहता है बस यही काफी है।

"उससे कुछ पता लगने की आशा छोड़ कर मैंने गजराज से सब वृतान्त कहा, गजराज बोला—"माल घर पर ही होगा। देहात वाले माल दूसरी जगह नहीं रखते। डाका घर पर ही डालना चाहिए, वहीं माल होगा!"

(३)

यह निश्चय करके एक दिन रात को लाला रामचरण के घर पर धावा बोल दिया गया। गाँव में घुसते ही बन्दूक की दो चार फैरें कर दी गई। फैरें सुन कर गाँव वाले तो दुबक रहे। ये लोग रामचरण के द्वार पर पहुँचे। द्वार पर अलगू चमार पड़ा हुआ था। वह इन लोगों के पहुँचने की आहट पाकर जाग पड़ा था।

"गजराज ने पहिले उसी को धरा! इसके पश्चात् किवाड़ें तोड़ कर मकान के अन्दर घुस गये। लाला रामचरण को पकड़ा और सन्दूक की ताली माँगी। लाला ने ताली दे दी; परन्तु सन्दूक जो खोले गये तो सिवाय कपड़ों तथा सौ-पचास फुटकर रुपयों के और कुछ नहीं निकला। रामचरण से पूछा गया कि माल कहाँ है तो उसने बताया

कि शहर में एक महाजन के यहाँ जमा है।

"विफल मनोरथ होने के कारण उत्पन्न हुए क्रोध के आवेश में गजराज ने लाला को मार डाला और उनकी स्त्रियों के गहने उतरवा लिये। वे केवल चाँदी के तथा बहुत थोड़े थे। यह काम करके गजराज अपने दल सहित चला आया। अलगू मौका पाकर सटक गया था। गजराज ने उसे भी ढूँढ़ा, इस इरादे से कि उसका भी खात्मा कर दिया जाय; पर वह मिला ही नहीं।

"इसके पश्चात् तीन चार दिन बाद मैं गाँव गया। गाँववालों से डाके की बात की।

एक बोला—"हाँ बड़ा भीषण डाका पड़ा था। गाँव वाले तो डर के मारे घर से नहीं निकले।"

"तब तो डाकू सब माल ले गये होंगे।"

"सो तो उन्हें कुछ नहीं मिला।"

"क्यों?"

"घर में कुछ था ही नहीं।"

"तब कहाँ था?"

"अलगू चमार के हाँ।"

यह सुन कर मेरा सिर चकरा गया। अलगू चमार के यहाँ सब माल धरा था। यह एक ऐसी बात थी जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

मैंने पूछा—"यह कैसे पता लगा?"

"लाला जब मार डाले गये तो अलगू ने बताया।"

"और किसी को यह बात नहीं मालूम थी?"

"न! केवल लाला और अलगू को मालूम थी।"

"यह खबर पाकर मैं अलगू से मिला। अलगू मुझे पहचान कर बोला—"आओ! हमारे लाला के यहाँ तो डाका पड़ गया, लाला मारे

गये। मैं भाग निकला नहीं तो मैं भी मारा जाता।"

"लेकिन गाँववाले तो कहते हैं कि माल कुछ नहीं मिला।"

"सो कहाँ मिलता ? माल तो दूसरी जगह था।"

"तुम्हारे यहाँ"—मैंने हँसकर कहा।

"आपको कैसे पता लगा।"

"गाँवबालों ने बताया।"

अलगू हँसकर बोला—"हाँ आपने उस दिन जो पूछताछ की थी उससे मुझे आप पर सुबह हो गया और लाला से कहकर मैंने माल अपने यहाँ रखवा लिया था।"

"यह सुनकर मेरे तो होश उड़ गये। यह बुड्ढा इतना चालाक है कि मेरे जरा से पूछताछ करने पर ताड़ गया। मैं तुरन्त उसके सामने से भागा फिर मैं कभी उस गाँव नहीं गया।"

"परन्तु इसमें खास बात क्या रही ?" मोहनलाल ने पूछा।

"खास बात यह है कि जब लाला मारे जा चुके थे और अलगू के यहाँ माल हटाये जाने की बात केवल लाला को मालूम थी, तब अलगू यदि चाहता तो सारा माल हज्म कर जाता; परन्तु उसने ऐसा नहीं किया—सब माल लाला के घरवालों को लौटा दिया। यही कारण था कि गाँववाले उस गरीब चमार की इतनी इज्जत करते थे।"

"हाँ, यह अलबत्ता एक बात है। ऐसे आदमी भी हैं जो इज्जत और सच्चाई के आगे पैसे की कोई हस्ती नहीं समझते परन्तु बहुत कम !"

"खैर वह कमती सही, आपने माना तो।"

गणेशवाहन

पण्डित गणपति शर्मां प्रातःकाल लौकी -सा मुँह लटकाये अपने घर के चबूतरे पर बैठे थे। इसी समय मुहल्ले का एक व्यक्ति उधर से निकला। उसने पूछा—'कहिए शर्माजी, आज कैसे चिन्तित बैठे हैं ?' शर्माजी ने कुछ उत्तर न दिया। उनके माथे की रेखाएँ अधिक गहरी हो गयीं। उस व्यक्ति ने पुनः प्रश्न किया—'क्या तबीयत कुछ खराब है ?'

इस बार शर्मा जी बोले—'कुछ ! अजी यह कहिये बहुत खराब है।'

'क्या मामला है ?'

'क्या बताऊँ मामला, कोई सुने तो कहे कि अच्छा मामला है !'

'आखिर ऐसी कौन-सी बात है ?'

'कहते भी शर्म आती है। मामला यह है कि चूहों ने बहुत परेशान कर रखा है। नाक में दम है कमबख्तों के मारे। सारा घर पोला कर दिया, आलमारी, किवाड़ काट डाले; खाने-पीने की चीज रखने में तनिक भी असावधानी हो जाय तो सबेरे उसका सफाया मिलेगा। अभी

एक नया कोट बनवाया था, मुश्किल से तीन-चार दफा पहना होगा। कल रात मे उसके बटन काट गये और आस्तीन में छेद कर दिया। अब बताइये, बीस रुपये में एक कोट तैयार हुआ सो उसे इन हरामजादों ने रद्दी कर दिया।'

'चूहे आजकल बहुत बढ़ गये है।'

'यह सब विनाश के लक्षण है। जब-जब चूहे बढ़ते हैं तब-तब विनाश होता है।'

'सो तो हो ही रहा है। चूहेदान लगाइये।'

'बड़े सयाने है कम्बख्त ! दो-चार दिन तो फँसेंगे, इसके बाद फिर कोई पास भी नहीं फटकता।'

'समझ जाते हैं कि यह हमारे फँसाने का सामान है। एक बात किया कीजिए। दो-चार दिन बाद चूहेदान को पानी से धुलवा दिया कीजिये।'

'यह क्यों ?'

'जब चूहेदान में चूहों की गन्ध बस जाती है तब चूहे नहीं आते !'

'अच्छा, यह बात भी है !'

'जी हाँ !'

इसी समय एक कायस्थ सज्जन उधर से निकले। वह इन दोनों का वार्तालाप सुनकर बोले' किसी दवाखाने से चूहेमार दवा ले आइये और उसे आटे में मिलाकर गोलियाँ बना लीजिए और उन्हें इधर उधर डाल दीजिये। बस उन्हें खाकर चूहे मर जायँगे।

'हाँ भाई, तुम मांसभक्षी ऐसी ही युक्ति तो बताओगे जिसमें खोपड़ी पर पाप लदे।'

'इसमें पाप काहे का, पाप तो निर्दोष की हत्या करने में है। ये तो बड़े आततायी होते हैं, इनकी हत्या में पाप नहीं है। खायँ और व्यर्थ में नुकसान करें—गुस्सा तो इस बात पर आता है।'

'तब फिर ऐसों को मारने में क्या पाप है ?'

'और चाहे जो हो, परन्तु यह तो हम से न होगा।'

'न होगा तो चूहे भी कम न होंगे।'

यह कह कर वह चल दिये।

'सुना, क्या युक्ति बता गये।' शर्माजी ने पहले व्यक्ति से कहा।

'वह आससे न होगा। आप बिल्ली पालिये।'

'वह भी हत्या करेगी।'

'तो उसकी जिम्मेदार वह होगी। आप से क्या मतलब ?'

'लेकिन हमारा बिल्ली पालने का अभिप्राय तो यही है कि वह चूहों की हत्या करे। ऐसी दशा में उनकी हत्या का मुख्य कारण तो हमी हुए।'

'ऐसा सूक्ष्म विचार कीजियेगा तो बस हो चुका।'

ब्राह्मण आदमी ठहरे—विचार करना ही पड़ता है।'

'आप तो व्यर्थ की बात करते हैं।'

'देखो, पहले तो पिंजड़ा धोनेवाली युक्ति करूँगा; उससे काम न चला तो फिर बिल्ली पालने पर बिचार लूँगा।'

'पिंजड़ा लगाइये ही परन्तु बिल्ली भी पालिये, तभी इनसे कुछ त्राण मिलेगा। बहुत से तो उसके भय से ही भाग जायेंगे।'—यह कह कर वह व्यक्ति चला गया।

(२)

उस दिन शर्मा जी ने चूहेदान को खूब धुलवाकर रखवाया। सबेरे उसमें चार चूहे मिले। शर्मा जी प्रसन्न होकर पत्नी से बोले—'यह युक्ति तो अच्छी हाथ लगी। बस अब नित्य पिंजड़ा धोया जाय।'

पिंजड़ा लेकर वह चूहे छोड़ने चले। घर से थोड़ी दूर चाल कर उन्होंने इधर उधर देखा। आस-पास कोई आदमी न देख कर उन्होंने चूहे छोड़ दिए। चूहे छोड़ कर वह लपकते हुए अपने घर चले आये।

दूसरे दिन भी तीन चूहे फँसे, उन्हें भी उन्होंने अपने घर के निकट ही दूसरी दिशा में छोड़ दिया। तीसरे दिन कोई चूहा नहीं फँसा। वह अपनी खिड़की से गली में झाँक रहे थे। इसी समय एक आदमी ने पाँच चूहे उनके द्वार पर छोड़े। शर्माजी ने ललकारा—'यह क्या करते हो? हमारे यहाँ चूहे छोड़ते हो ! तभी तो ये कम नहीं होते। मैं भी तो कहूं क्या बात है। आज पता लगा कि मुहल्ले वाले यहाँ चूहे छोड़ जाते है। वाह भाई वाह !'

वह व्यक्ति बोला—'ये आपके ही चूहे है।'

'हमारे चूहे !'

'हाँ !'

'अच्छा तो आप चूहे भी पहचानते हैं ?'

'मैं तो नहीं पहचान ता,लेकिन ये चूहे परसों रातभर रोते चिल्लाते रहे। उनका रोना-चिल्लाना सुनते हुए मैं सो गया तो मुझे स्वप्न हुआ, मानों यह चूहे कह रहे हैं कि—हमें गणपति शर्मा के यहाँ छोड़ आओ, नहीं तुम्हारा अनिष्ट होगा। कल रात में पिंजड़ा लगा देना, हम उसमें आ जायँगे—बस तुम हमें उनके यहाँ छोड़ आना। मैंने इन्हें बहुत समझाया कि जब क्षर्मा जी तुम्हें यहाँ छोड़ गये हैं तो तुम यहीं आराम से रहो। परन्तु इन्होंने मेरी एक न सुनी। बोले वह हमारे स्वामी हैं, हम उनसे अलग कदापि नहीं रह सकते।'

यह कहानी सुनकर शर्माजी चकराये। गला साफ करके बोले—'मैं उनका स्वामी कैसे हुआ ?'

'मैं तो जानता नहीं। कदाचित आपका नाम गणपति है और चूहा गण-बाहन हैं।'

इतना सुनकर शर्माजी आग हो गये। चिल्ला कर बोले—'एक तो हमारे यहाँ चूहे लाकर छोड़े, ऊपर से मजाक करते हो। याद रखना—मैं तुम्हारा घर चूहों से भर दूँगा।'

'तो अभी आप कौन रिआयत करते हैं। अपने चूहे हमारे यहाँ नहीं छोड़ते ?

'कब छोड़े ?'

'अभी तीन दिन पहले छोड़ आये हैं।'

'तुम झूठ बोलते हो। तुम उस समय वहाँ कहाँ थे ?'

शर्माजी का शोर सुनकर कुछ लोग जमा हो गये थे। एक बोला— 'वाह शर्माजी! इससे तो प्रमाणित हो गया कि आप छोड आये थे।'

शर्माजी बौखला गये। 'अच्छा अभी तक तो नहीं छोड़े थे, परन्तु अब छोड़ूँगा।'

—यह कहकर उन्होंने जल्दी से खिड़की बन्द कर ली। पत्नी ने पूछा—'क्या बात है ? क्यों लड़ते हो ?'

'बात है तुम्हारा सिर! जल्दी में ऐसी बात मुँह से निकल गयी कि लोग समझ गये कि हमने चूहे छोड़े हैं। राम! राम! ऐसी मूर्खता हुई कि क्या बतायें। न जाने दुष्ट कहाँ बैठा देख रहा था।'

'तो किसी के दरवाजे पर क्यों छोड़ते हो ?'

'तो फिर कहाँ छोड़ने जाऊँ—जगंल में ? जंगल यहाँ से तीन मील है। रोज इतनी दूर जाऊँ तो बस इसीं भर का हुआ।'

'तब कोई दूसरा छोड़ जाता है तो बुरा क्यों मानते हो ?'

'अच्छा, तुम अपना न्याय रहने दो! चली हो युधिष्ठिर बनने! बस अब बिल्ल पालनी ही पड़ेगी तय हो गया।'

उसी रात को एक चूहे ने बहुत परेशान किया। आलमारी की शीशियाँ गिरा दीं—दो काँच के गिलास गिराकर फोड़ दिये। शर्माजी और उनकी पत्नी दोनों जाग पड़े। शर्माजी बोले—'इन्होंने तो नाक में दम कर दिया। इस चूहे को आज बिना दन्ड दिए न मानूँगा।'

यह कहकर शर्माजी ने उठकर बत्ती जलाई और एक पतली छड़ी ले ली। चूहा आलमारी में छिपा हुआ था। उसे उन्होंने उसकाया। चूहा

निकल कर भागने लगा तो छड़ी का एक हलका हाथ उसे जमाया। चूहा फटाक से भूमि पर आ गिरा और दो चार बार पैर फटाफटा कर निश्चल हो गया।

पत्नी बोली—'यह तो मर गया !'

शर्माजी के मुख पर हवाइयाँ उड़ने लगीं; बोले—'यह मर कैसे गया, मैंने तो हलका हाथ मारा था कि मरे नहीं, परन्तु कुछ चोट खा जाय।"

'उसके लिए तुम्हारा हलका हाथ ही भारी पड़ गया।'

'यह हत्या बुरी लगी। राम ! राम !'

'खैर, अब तो मर ही गया।'

'गणेशजी का बाहन है। इसको मारने से बड़ा पाप लगता है।'—कहते कहते शर्माजी रो पड़े। आँखों से आँसू बहाते हुए गद्गद् कन्ठ से बोले—'हे गणेशजी महाराज, मेरा अपराध क्षमा करना। मैंने जान-बूझ कर इसे नहीं मारा। केवल दन्ड देना चाहता था। आप अन्तर्यामी हैं घट-घट की जानते हैं। मैं निर्दोष हूँ।'

यह कह कर वह आँसू पोंछते हुए वहाँ से हट आये और पत्नी से बोले—'इसे कागज पर रखकर गली में फेंक दो।'

पत्नी कागज लेने के लिए हटी। शर्माजी दूर खड़े चूहे को देख रहे थे। सहसा वह चूहा एकदम उठकर भागा और क्षणमात्र में अदृश्य हो गया। शर्माजी के नेत्र विस्फारित होकर रह गये। सहसा वह प्रसन्न होकर बोले—

'अरे देखो, गणेशजी महाराज ने मेरी प्रार्थना सुन ली—चूहे को जीवित कर दिया।'

पत्नी को आश्चर्य हुआ। वह बोली—'यह तो बड़ी अनोखी बात हुई। ऐसा तो कभी देखा नहीं।'

शर्माजी अकड़कर बोले—'मैं गणेशजी का भक्त हूँ। गणपति मेरा

नाम है। उसी का यह प्रताप है कि मरा चूहा जीवित हो गया।'

सबेरे शर्माजी ने यह घटना लोगों को सुनाई। एक महाशय बोले—'अजी यह चूहे बड़े ढोंगी होते हैं। हमारे यहाँ भी एक बार ऐसा ही हो चुका है। ऐसा रूप रचा उसने कि हम समझे कि मर गया। जैसे ही हम वहाँ से हटे कि उठकर भाग गया।'

शर्माजी बोले—'चूहे भी कोई मनुष्य हैं जो ढोंग करेंगे—क्या गप उड़ाई।'

उस आदमी ने कहा—'आप मानते ही नहीं।'

'कैसे मान लूँ, कोई तुक भी तो हो।'

'अच्छा न सही! आपके मुँह कौन लगे।'

(३)

इतवार के दिन शर्माजी बिल्ली ढूँढ़ने निकले। एक घन्टा इधर-उधर फिरने के पश्चात् उन्होंने देखा कि एक श्वेत पालतू बिल्ली एक मकान के चबूतरे पर बैठी है। उन्होंने उसे पुचकार कर पकड़ लिया और लेकर द्रुतगति से चल दिये। वह कुछ ही दूर चले होंगे कि एक आदमी चिल्लाया—'अरे, वह बिल्ली लिए जा रहा है!'

यह सुनकर कुछ आदमी दौड़े और उन्होंने शर्माजी को घर लिया। एक व्यक्ति बोला—'यही मुहल्ले भर की बिल्लियाँ चुरा ले गया। मारो पाजी को।'

जबतक शर्माजी कुछ बोलें-बोलें तबतक चार-छः धौल और लप्पड़ पड़ गये।

शर्माजी घबराकर बोले—'अरे भई, पहले बात तो सुन लो।'

लोग हाथ रोककर बोले—'कहो।'

शर्माजी बोले—'मैं आप लोगों की एक भी बिल्ली नहीं ले गया। मैं कसम खाने को तैयार हूँ।'

एक ने कहा—'और सुनो। सरीहन सामने लिए जा रहा है और कहता है कि एक भी बिल्ली नहीं ले गया। इसे पुलिस के हवाले करो।'

शर्मा जी बोले—'भई, यह बिल्ली मैंने लावारिस समझकर अवश्य उठा ली। इसके लिए मैं क्षमा चाहता हूँ।'

'क्या करेंगे बिल्ली—बेचेंगे ?'

'नहीं भई ! चूहों ने बहुत परेशान कर रखा है इसलिए एक बिल्ली की तलाश थी। मैं तो खरीदने को तैयार हूँ अगर कहीं मिले तो।'

लोगों को उनकी बात पर विश्वास हो गया। एक बोला—'जाने दो, भले आदमी मालूम होते है। क्या करें जनाब, चूहों के कारण ही हमें भी बिल्ली का मोह है, नहीं तो हम आपको दे देते।'

शर्माजी बहुत ही अप्रतिभ होकर घर लौटे। उस दिन से शर्माजी ने बिल्ली का जिक्र करना ही छोड़ दिया। कोई बिल्ली का जिक्र करता तो कहते थे—'आजकल चूहों के डर के मारे बिल्लियाँ भी भाग गयीं हैं यदि कोई चूहों के सम्बन्ध में पूछता तो कहते थे—'बस, अब तो प्लेग-देब का ही सहारा है। वह आयें तो चूहे कम हों—और कोई उपाय नहीं है।"

आज़ादी

"हर्गिज नहीं। बादशाह सलामत मेरी लख्ते जिगर नूरे नज़र दौल्ती को अगर चाहें तो जबरदस्ती मुझसे छीन कर मंगवा सकते हैं लेकिन रजामन्दी से हर्गिज नहीं, क़यामत तक नहीं।"

सन् १६५० ई० की 'बसन्त ऋतु' थी। दिल्ली की एक प्रसिद्ध वैश्या ने शाहजहाँ के दूत को उत्तर देते हुए बड़े आवेश के साथ उपर्युक्त वाक्य कहे।

दूत आश्चर्य से नेत्र विस्फारित करके बोला—"सकीना बानो! तुम होश में हो या नहीं!"

सकीना बानो सिर हिलाते हुए बोली—"बिलकुल होश में हूँ।"

"तुम अपने पेशे को जानती हो?"

"जानती हूँ!"

"तुम्हारा पेशा दौलत और ऐश चाहता है।"

"हाँ चाहता है।"

"और दौलत और ऐश के लिए सबकुछ कुर्बान करने को तैयार

रहता है।"

"सबकुछ! सिवा आजादी के और सबकुछ।"

"आजादी।"

"हाँ, आजादी।"

"तुम्हारा मक़सद मैं नहीं समझा।"

"हम अपनी इज्जत, अपनी असमत (सतीत्व), अपना जिस्म, अपना हुस्न. सबकुछ दौलत और ऐश के लिए दे सकते हैं। लेकिन आज़ादी नहीं।"

"ओफ ओह! आजादी इस कदर अज़ीज (प्यारी) है।

"कोई चिड़िया सोने के पिंजड़े में रहकर और सोने की प्यालियों में दाना पानी पाकर खुश नहीं रह सकती।"

"तो क्या मैं बादशाह सलामत से जाकर यही अर्ज कर दूँ, जो तुम कह रही हो?"

"यही, लफ्ज ब लफ़्ज!"

"इसका अन्जाम (परिणाम) भी सोच लिया है?"

"मौत से ज्यादा और क्या हो सकता है।"

"इतनी हिम्मत।"

"आज़ादी के लिए।"

"लेकिन सकीना बानो, ज़रा शाहजादे की वली अहद की हालत पर भी तो गौर करो। बिना दौल्ती के उनकी ज़िन्दगी दुश्वार है।"

"अगर शाहजादे वली अहद को दौल्ती से इतनी मुहब्बत है तो वह मुझ कनीज (लौंडी) के गरीबखाने पर तशरीफ लायें। मैं उन्हें अपनी पलकों पर बिठाऊँगी। दौल्ती उनकी कनीज है। जब तक मिज़ाज चाहे यहाँ तशरीफ रक्खें।"

"औफ ओह! वली अहद तुम्हारे मकान पर तशरीफ लायें। तुम्हारा इतना दिमाग।"

की खिदमत में रहकर तुम्हारी लड़की मोतियों पर लोटेगी, जवाहरातों से खेलेगी।"

"लेकिन आजादी के लिए तरसेगी।"

"फिर वही आजादी! जो ऐश बेटी को नसीब होगा, वली अहद की जो मुहब्बत उसके लिए होगी उस पर हजार आज़ादियाँ कुर्बान हैं।"

आजादी और माँ की मुहब्बत का मुकाबिला दुनियाँ की किसी चीज से भी नहीं हो सकता।"

"तो क्या यह आखिरी फैसला है?"

"बिल्कुल आखिरी।"

(२)

"शाहजादे की जान से ज्यादा अजीज उसे अपनी आज़ादी है?" शाहजहाँ ने भ्रकुटी चढ़ाकर पूछा।

"जहाँपनाह।"

"एक तफायफ का इतना दिमाग?" दूत मौन रहा।

शाहजहाँ कुछ क्षणों तक बेचैनी के साथ टहलता रहा। तत्पश्चात दूत की ओर देखकर बोला—मुकबिल !

"आलीजाह !" मुकबिल ने सिर झुकाकर कहा।

"शाहजादे दारा को सकीना का यह जबाब जाकर सुनादो। इस पर वह क्या कहता है, मुझ से आकर बयान करो।"

"बहुत खूब आलीजाह।"

दूत शाहजादे दारा के पास पहुँचा। शाहजादा शोकग्रस्त दशा में चुपचाप बैठा था। दूत को देखते ही किञ्चित प्रसन्न मुख होकर बोला–"खुशामदी (स्वागतम्) मुक़बिल ! क़ूएजाना (प्रेमिका की गली) की ज़ियारत कर आए ? बड़े खुशनसीब हो। क्या पैगाम लाये ?"

"आला हजरत ! पैगामे ना उम्मीदी लेकर आया। गुलाम ऐसा नागुबारक पैगाम हुजूर के गोश गुजार (कानों तक पहुंचाना) करना नहीं चाहता था, लेकिन शाही हुक्म से मजबूर होगया।"

"तो क्या उस सितमगर ने मेरे पैगामे मुहब्बत को ठुकरा दिया।"

"हुजूर ! उसका तो गुलाम को दीदार भी नसीब नहीं हुआ, जो कुछ गुफ्तगू हुई उसकी वालिदह से हुई ! उसने साफ इन्कार कर दिया।"

"ऐं ! इन्कार कर दिया। एक तवायफ ने ?"

"आला हजरत ! उसे शाही ऐशो इशरत की बनिस्बत अपनी बेटी की आजादी का ज्यादा खयाल है।"

"उफ ! वालदैन किस कदर बेरहम होते हैं। मैं उस मनहूस घडी को कोसता हूँ जब मेरी उस नाजनीन पर नजर पड़ी। आह ! अगर मैं उस रोज सैर के लिए न जाता तो यह दिन क्यों देखना पड़ता।

"मशीयते एजदी (विधना के विधान) में इन्सान का क्या चारा।"

"बेशक ! एक शहनशाह का लख्ते जिगर भी उसके आगे नाचीज है।"

दारा शिकोह कुछ क्षणों तक चिन्ता-सागर में मग्न रहने के पश्चात

बोला—मुक़बिल !"

""'आला हज़रत !"

"जो चाहता है इस दिल को चीर कर पहलू से निकाल दूँ। जिसकी बदौलत एक अदनी (नीच) तवायफ का ऐसा जवाब सुनना पड़ा।"

"इश्क सबकुछ करा सकता है हुजूर।"

"वाकई ! इस जालिम के आगे सब मजबूर हो जाते हैं। लेकिन अब क्या होना चाहिए ?"

"जो आला हजरत का हुक्म हो।"

"अब्बाजान क्या करना चाहते हैं।"

"जो आला हजरत की ख्वाहिश हो।"

दारा पुनः चिन्ता में पड़ गया। सहसा उसके माथे पर बल पड़ गए मुख तमतमा उठा। वह बोला -'मुक़बिल !"

"आला हजरत !"

"उसकी वालिदह ने इन्कार किया है न ?"

"हजूर।"

"उसने तो इन्कार नहीं किया ?"

"गुलाम ने अर्ज़ किया न कि गुलाम को तो उसका दीदार तक नसीब नहीं हुआ।"

"तो बस ठीक है। उसे ज़बरदस्ती लाकर हाजिर करो।"

"जो हुक्म !"

मुकविल दारा से बिदा होकर शाहजहाँ के पास पहुँचा। शाहजहां ने पूछा-"दारा ने क्या कहा ?"

"ज़बरदस्ती लाने का हुक्म सादिर फरमाया आलीजाह।"

"दुरुस्त है ! माबदौलत की भी यही ख्वाहिश थी। रज़ील तवायफ को भी मालूम हो जाय कि शाही हुक्म की नाफर्मानी का क्या अंजाम

होता है। जाओ ! दारा के हुक्म की तामील करो !"

"जो हुक्म !"

(३)

शाही फ़ौज के जवानों ने सक़ीना बानो का मकान घेर लिया। मुक़बिल सब जवानों को नीचे छोड़ कर अकेला ऊपर गया

सकीनाबानो सहमी हुई खड़ी थी । दौल्ती अपनी मां से चिपकी हुई रो रही थी। मुक़बिल दौल्ती के रूप को देखकर कुछ क्षणों के लिए स्तम्भित हो गया। परन्तु कर्तव्य-पालन के विचार से शीघ्र ही संभल कर बोला "सकीनाबानो ! मुझे निहायत अफ़सोस के साथ अपना फ़र्ज अदा करना पड़ रहा है। तुम्हारी दुख्तर को ज़बरदस्ती ले जाकर शाहजादे की खिदमत में हाजिर करने का काम मेरे सुपुर्द किया गया है।"

सकीनाबानो क्रुद्ध सर्पिणी की भांति सिर उठाकर बोली—"मुक़-बिल, तुम बे कुसूर हो। तुम महज़ अपने आक़ा का हुक्म बजा रहे हो। जहाँ--पनाह भी मजबूर हैं। औलाद के लिए इन्सान क्या नहीं करता। मगर ऐसी नालायक औलाद के लिए मुन्सिफ और आदिल बादशाह को भी रियाया पर ऐसा ज़ुल्म करना पड़ता है कि मां को बेटी से और बेटी को मां से ज़बरदस्ती अलाहिदा करे। ऐसे ज़ालिम वलीअहद से रियाया को क्या उम्मीद हो सकती है। जब वलीअहदी में यह हालत है तो बादशाह होकर क्या न करेंगे। ले जाओ मेरी नूरेनज़र, मेरी राहतेज़ान को ले जाओ। मैं इसका इन्साफ़ खुदा से तलब करूंगी।" इतना कहते कहते सकीनाबानों के नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। उसने दौल्ती को मुक़बिल की ओर ढकेल दिया।

दौल्ती चीख़ मार कर पुनः माँ से जा लिपटी। सकीना दौल्ती से बोली—"जाओ बेटी ! "इन्कार करने से जान का ख़तरा है ! जाओ !

खुदा सब देख रहा है। बादशाह की अदालत में इन्साफ का खून हो सकता है, लेकिन उसकी अदालत में हर्गिज़ नहीं हो सकता। जाओ मैं अपनी फरियाद उसकी अदालत में पहुँचाऊँगो।"

इतना कह कर सकीना से पुनः दौल्ती को मुकबिल की ओर ढकेल दिया और स्वयं रोती हुई दूसरे कमरे में चली गई।

मुकबिल दौल्ती से बोला—"बानो! घबराओ मत! तुम्हें कोई तकलीफ न होगी।"

दौल्ती ने कोई उत्तर न दिया। वह रोती हुई मुकबिल के आगे होली।

* * * *

सौन्दर्य की जीती-जागती मूर्ति दौल्ती दारा के सामने सहमी हुई खड़ी रो रही थी। दारा उसके रूप-सुधा को तृषित नेत्रों से पान कर रहा था। कुछ देर तक मौन रहने के उपरान्त दारा ने कहा—"दौल्ती, मुझसे इतनी नफरत।" दुरुस्त! बादशाहे हुस्न (सौन्दर्य सम्राट) जिसका गुलाम हो उसके सामने एक वली अहद की क्या हस्ती है। लेकिन आखिर इस कनाराकशी की वजह?" दौल्ती उत्तेजित होकर बोली—"माँ को बेटी से ज़बरदस्तो अलाहिदा करके भी आलाहज़रत वजह दर्याफ्त फरमाते हैं? गरीब और मजबूर रियाया पर इतना जुल्म! जब वलीअहदी में यह हालत है तो बादशाह होकर क्या न करेंगे।' दौल्ती ने अपनी माता के शब्दों को दोहराते हुए कहा।

दारा चौंक पड़ा मानों किसी ने सुई सी चुभो दी। वह उठकर दौल्ती के सामने खड़ा हो गया और कुछ क्षणों तक उसकी ओर स्थिर दृष्टि से ताकने के पश्चात् बोला—"दौल्ती तुम्हारा कहना बिलकुल दुरुस्त है। जब वलीअहदी में यह हालत है तो बादशाह होकर क्या न करूँगा। लेकिन, लेकिन उफ! क्या करूँ। इस दिल से मजबूर हूँ।"

"अगर बादशाह और रियाया की जानोमाल के महाफिज (रक्षक)

भी मामूली इन्सानों की तरह दिल के ऐसे गुलाम बन जांय कि जुल्मों-इन्साफ का ख्याल छोड़ दें तो फिर मामूली इन्सान और बादशाह में फर्क ही क्या रहा आला हज़रत ?"

दारा सिर हिलाता हुआ बोला, "बिलकुल बजा कहती हो। जाने-मन ! खुदा ने तुमको हुस्न की दौलत के साथ साथ अक्ल की दौलत भी अता फर्माई है। काश कि तुम तवायफ के घर में पैदा न होकर किसी आली खानदान के यहाँ पैदा होतीं।

"यह मुक़द्दर का कुसूर है आला हज़रत—मेरा नहीं।"

"बेशक ! बेशक ! खैर ! तो तुम क्या चाहती हो ?"

"आजादी !"

"मंजूर ! तुम्हें तुम्हारी मर्जी के खिलाफ महज अपनी राहत के लिए जबरदस्ती अपने पास रखना मुहब्बत की राहरस्म के खिलाफ भी है और रियाया परवरी के खिलाफ भी। इसलिए जाओ ! जानेजहाँ जाओ। मिस्लेगुल गुलशने जहाँ में फूलो फलो और शाद रहो।"

अश्रु पूर्ण नेत्रों से उपर्युक्त वाक्य कहकर दारा ने ताली बजाई एक खवास (दासी) सिर झुकाये हुए सामने आई ! दारा ने उससे कहा- "मुकबिल को हाजिर करो।"

जितनी देर तक मुकबिल नहीं आया, दारा हसरत भरी दृष्टि से दौल्ती को देखता रहा। दौल्ती चुपचाप सिर झुकाये खड़ी रही। मुक-बिल के आने पर दारा ने उससे कहा "मुकबिल ! दौल्ती को ब आराम घर पहुंचा आओ।" इतना कहकर दारा ने दीर्घ निश्वास छोड़ी।

दौल्ती ने कृतज्ञता पूर्ण नेत्रों से दारा को देखते हुए कहा—"आला हजरत। मैं तहेदिल से इस इनायत का शुक्रिया अदा करती हूँ। अगर आला हजरत गरीब खाने पर तशरीफ लावें तो यह कनीज हर तरह से खिदमत के लिए तैयार है।"

दारा विषाद-पूर्ण मुस्कान के साथ बोला—"अगर बादशाह और

रियाया की जानो माल के महाफिज भी दिल के ऐसे गुलाम बन जाँय कि अपने रुतबे को भूल कर मामूली इन्सानों की तरह एक तवायफ के यहां आने जाने लगें तो उनमें और मामूली इन्सान में फर्क ही क्या रहा ? क्यों जानेमन ? यह सबक तो अभी तुम्हीं ने पढ़ाया था, इसे इतनी जल्दी भूल गईं ? या यह भी एक अदा थी ? खैर जो भी हो ! मैं तो इसे अपने लिए सबक ही समझता हूँ। जाओ ! खुदा तुम्हें शादो-आबाद रक्खे।"

दौल्ती लज्जा से पसीने पसीने हो गई और सिर झुका कर मुक-बिल के साथ चलदी।

* * * *

जब औरंगजेब ने दारा शिकोह को कत्ल करवा दिया तो दारा-शिकोह के लिए शोक मनाने वालों में बूढ़ी सकीना बानो और उसकी बेटी दौलतो प्रमुख थीं।